जीवन विज्ञान

स्वस्थ समाज का संकल्प

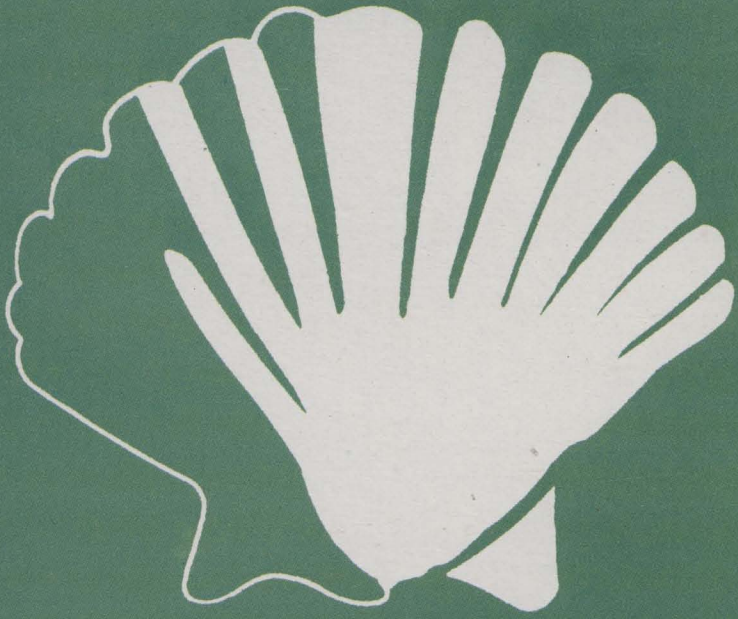

आचार्य महाप्रज्ञ

जीवन विज्ञान
स्वस्थ समाज रचना का संकल्प

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक : **मुनि दुलहराज**

प्रकाशक : **जैन विश्व भारती,**
लाडनूं—३४१३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

सौजन्य :
सौजन्य से : स्व. श्री चन्दनमल जी भादानी
की स्मृति में
हुलासी देवी, कमलेश कुमार भादानी
त्रिपुर, श्रीडूंगरगढ़

संस्करण: २००२
संस्करण : 2008

मूल्य : ४०.०० रु.

JEEVAN VIGYAN
Svasth Samaj Rachna Ka Sankalp
Acharya Mahaprajna

प्रस्तुति

शिक्षा और समाज-व्यवस्था में गहरा अनुबंध है। वह समाज-व्यवस्था के अनुरूप होकर ही समाज को लाभान्वित कर सकती है। उसका काम है समाज-व्यवस्था को गतिशील बनाने वाले व्यक्तियों का निर्माण।

हिन्दुस्तान लोकतंत्रीय समाजवादी समाज-व्यवस्था का संकल्प लिए चल रहा है। लोकतंत्र का आधार है जनमत का सम्मान और समाजवादी व्यवस्था का आधार है सामाजिक न्याय। इनकी संपूर्ति के लिए आर्थिक संतुलन और तकनीकी विकास जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है नैतिक या चारित्रिक विकास। समाजवाद की दुहाई के ३५ वर्ष बीत जाने पर भी जातिवाद, संप्रदायवाद, प्रान्तीय और भाषाई अलगाववाद का दृष्टिकोण नहीं बदला है, आर्थिक विषमता में अन्तर नहीं आया है। क्या इसमें शिक्षा प्रणाली का कोई दोष नहीं है? यदि शिक्षा के द्वारा लोकतंत्रीय मूल्यों का विकास नहीं होता है तो उसकी सार्थकता में संदेह किया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में आज संदेह का वातावरण बना हुआ है। विद्यार्थी का भविष्य क्या है? यह प्रश्न आर्थिक परिप्रेक्ष्य में भी उभरता है और वैयक्तिक जीवन के संदर्भ में भी।

मनुष्य केवल सामाजिक नहीं है और वह केवल व्यक्ति भी नहीं है। वह संबंधों के कारण सामाजिक है और जन्मजात वैयक्तिकता (नेटिव इण्डिविज्वेटिलिटी) के कारण व्यक्ति है। शिक्षा में सामाजिक और वैयक्तिक दोनों पहलुओं का समन्वय आवश्यक है। इसके द्वारा ही आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों का सामंजस्यपूर्ण विकास किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान मूल्यपरक शिक्षा की समन्वयात्मक प्रयोग-पद्धति है। उसमें सोलह मूल्य निर्धारित किए गए हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है--

१. सामाजिक मूल्य--(१) कर्त्तव्यनिष्ठा (२) स्वावलम्बन।

२. बौद्धिक-अध्यात्मिक मूल्य--(३) सत्य, (४) सामन्वय; (५) सम्प्रदाय

निरपेक्षता (६) मानवीय एकता।

३. मानसिक मूल्य–(७) मानसिक संतुलन (८) धैर्य।

४. नैतिक मूल्य–(९) प्रामाणिकता, (१०) करुणा, (११) सहअस्तित्व।

५. आध्यात्मिक मूल्य–(१२) अनासक्ति, (१३) सहिष्णुता; (१४) मृदुता, (१५) अभय, (१६) आत्मानुशासन।

केवल सिद्धान्त-बोध के द्वारा विद्यार्थी अपनी अस्मिता को पहचान सके और सामाजिक न्याय के प्रति समर्पित हो सके, यह कम संभव है। इसके लिए सिद्धान्त और प्रयोग–दोनों का समन्वय आवश्यक है। राजस्थान माध्यमिक बोर्ड के द्वारा जीवन विज्ञान पर चार पुस्तकें तैयार कराई जा रही हैं। दो पुस्तकें छठी से आठवीं तथा दो पुस्तकें नवीं से ग्यारहवीं कक्षा के लिए। उनमें मूल्य-विकास के प्रयोग और सिद्धान्त–दोनों समन्वित हैं।

श्री चन्दनमल बैद के शिक्षामंत्रित्वकाल में राजस्थान के बारह विद्यालयों में जीवन विज्ञान का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक विद्यालय के तीन तीन अध्यापकों को जीवन विज्ञान की पद्धति का प्रशिक्षण दिया गया। उन अध्यापकों ने सौ विद्यार्थियों पर उसका प्रयोग किया। पचास विद्यार्थी प्रयोग वर्ग (एक्सपेरिमेंटल ग्रुप) में थे और पचास नियन्त्रण वर्ग (कंन्ट्रोल ग्रुप) में। उनमें मनोवैज्ञानिक परीक्षण (साइकोलोजिकल टेस्ट) और शारीरिक परीक्षण (मेडिकल टेस्ट) किए गए। उसकी रिपोर्ट एन.सी.आर.टी. द्वारा तैयार की जा रही है। आज फिर उस प्रयोग की पुनरावृत्ति हो रही है। इस बार अधिक विद्यालय चुने गए हैं। इसमें शिक्षामंत्री, शिक्षा आयुक्त, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के चैयरमैन, राजस्थान राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान, उदयपुर के निदेशक आदि सभी का योग है।

आचार्य तुलसी ने अणुव्रत की आचार-संहिता के माध्यम से अच्छे नागरिक का प्रारूप समाज के सामने रखा था। जीवन विज्ञान उसकी क्रियान्विति का प्रयत्न है। इसका उद्देश्य है–

(१) बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन।

(२) विवेक और संवेग में सामंजस्य।

(३) वैयक्तिकता और सामाजिकता में सामंजस्य।

(४) मानवीय संबंधों में परिवर्तन।

(५) नैतिक मूल्यों का विकास।

(६) आत्मानुशासन की क्षमता का विकास।

(७) मानवीय समस्या के प्रति संवेदनशीलता का विकास।

इनकी पूर्ति के लिए प्रथम कक्षा से ग्यारहवीं कक्षा तक का पाठ्यक्रम और प्रयोगक्रम तैयार किया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने शताब्दीपूर्व कहा था–अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आचार्य विनोबा भावे इस अपेक्षा को बार बार दोहराते रहे। जीवन–विज्ञान में इस अपेक्षा की पूर्ति की गई है। इसमें दर्शन, अध्यात्म, योग और कर्मशास्त्र के साथ शरीर विज्ञान, शरीरक्रियाविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, जैव- रसायनशास्त्र और सृष्टि-संतुलन शास्त्र (इकोलोजी) का भी अपेक्षित अध्ययन कराया जाता है।

जीवन विज्ञान की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज–दोनों को संतुलित मूल्य दिया गया है। समाज के संदर्भ से कटा हुआ व्यक्ति रामू भेड़िया बन सकता है, दार्शनिक और वैज्ञानिक नहीं बन सकता। व्यक्तिगत क्षमता के बिना वह विद्यालय का जीवन जीकर भी बौद्धिक विकास नहीं कर सकता। सामाजिक और वैयक्तिक दोनों अस्मिताओं का योग होने पर ही पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है।

व्यक्तिगत जीवन स्वयंकृत कर्म के द्वारा निर्मित होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने अपने कर्म के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयु और सुखानुभूति प्राप्त करता है। हम कर्म-संस्कार को छोड़कर व्यक्तित्व की सही व्याख्या नहीं कर सकते।

सामाजिक जीवन संबंधों के द्वारा निर्मित होता है। संबंध का पहला सेतु है आनुवंशिकता (हेरिडिटी, जीन और क्रोमोसोम)। प्राणी अपने माता पिता से संस्कार प्राप्त करता है, वातावरण और परिस्थिति से सीखता है। इसलिए सामाजिक संदर्भ के बिना भी व्यक्तित्व की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती।

हमारे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं–सामाजिक और वैयक्तिक। जो

वातावरण से प्रभावित है, वह सामाजिक है और जो कर्म- संस्कार से प्रभावित है, यह वैयक्तिक है। इन दोनों पहलुओं का संतुलन बनाए रखने के लिए कर्मवाद और परिस्थितिवाद, अध्यात्म और विज्ञान दोनों का अध्ययन आवश्यक है। साथ साथ कर्म-संस्कार का परिष्कार और परिस्थिति का परिवर्तन भी आवश्यक है।

कर्म-संस्कार के परिष्कार का उपाय है भावशुद्धि और व्यवहारशुद्धि। व्यवहारशुद्धि के तीन रूप बनते हैं—

१. संयमपूर्ण व्यवहार।

२. प्रामाणिक व्यवहार—नैतिकता।

३. मृदु व्यवहार।

मनुष्य में राग या आसक्ति का आवेश है, इसलिए वह असंयमपूर्ण व्यवहार करता है। उसमें लोभ का आवेश है, इसलिए वह अप्रामाणिक व्यवहार करता है। उसमें क्रोध और अहंकार का आवेश है, इसलिए वह क्रूर व्यवहार करता है। अवांछनीय व्यवहार का मूल हेतु है आवेश। जैसा आवेश वैसा व्यवहार—यह कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण है। जैसा रसायन वैसा व्यवहार—यह मानसशास्त्रीय दृष्टिकोण है। उसके अनुसार व्यवहार के नियंत्रण-सूत्र नाड़ीतंत्रीय और ग्रंथितंत्रीय रसायन हैं। वे बदलते रहते हैं और उन्हें बदला जा सकता है। उन्हें बदलने का आध्यात्मिक सूत्र है—भावशुद्धि। जैसा भाव वैसा रसायन। भाव शुद्ध तो रसायन शुद्ध, भाव अशुद्ध तो रसायन भी अशुद्ध। भाव का स्रोत सूक्ष्म शरीर है। रसायन हमारे स्थूल शरीर में पैदा होते हैं। मानवीय व्यवहार की व्याख्या का आदि सूत्र है कर्म का स्पन्दन। उसके दृश्य सूत्र हैं जैविक रसायन और जैविक विद्युत्। इस श्रृंखला में कर्मस्पंदन भाव का, भाव जैविक रसायन का, जैविक रसायन विचार और व्यवहार का कारण बनता है।

कर्म-संस्कार के संचय का कारण है विचार और व्यवहार। विचार की एकाग्रता और व्यवहार शुद्धि की प्रणाली सिखाने पर पचास प्रतिशत शिक्षा संपन्न हो जाती है। शेष पचास प्रतिशत शिक्षा का क्षेत्र है बौद्धिक और कर्म-कौशल (टैक्नोलॉजी) का विकास।

तथ्यों का ज्ञान, देश और समाज के प्रति कर्त्तव्य का बोध,

बौद्धिक शिक्षा के द्वारा हो सकता है। किन्तु आवेश-नियंत्रण की प्रायोगिक शिक्षा के बिना कर्त्तव्य का सही रूप में पालन शक्य नहीं बनता। सामाजिक और आर्थिक विकास तकनीकी ज्ञान के द्वारा संभव हो सकता है पर उससे आर्थिक विषमता वाली व्यवस्था का परिवर्तन शक्य नहीं बनता। उसके लिए उस शिक्षा की जरूरत है, जो व्यक्ति को समाज के प्रति संवेदनशील बनाए, सृजनात्मक दृष्टिकोण का निर्माण करे।

आज के विद्यार्थी को व्यवहार-शुद्धि का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सफल नहीं हो रहा है। उसे श्रमनिष्ठा का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह अपनी आर्थिक समस्या सुलझाने में सक्षम नहीं हो रहा है। उसे नैतिकता का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह अपने राष्ट्रीय दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पा रहा है।

नई शिक्षा नीति के परिपार्श्व में शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन के स्वर उभर रहे हैं। केवल पढ़ाने की प्रणाली बदलने से आमूलचूल परिवर्तन नहीं होगा। उसके लिए शिक्षा के स्वरूप को बदलना आवश्यक है। उस स्वरूप की प्रतिष्ठा अपेक्षित है, जिससे बौद्धिक विकास, व्यवहार शुद्धि या नैतिकता, श्रमनिष्ठा और दायित्वबोध—इन सबकी समन्विति फलित हो सके।

शिक्षा के बारे में भारतीय चिंतन अभी स्वस्थ नहीं है। बड़े-बड़े लोगों का स्वर है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली गलत है। यह स्वर अनगिन बार पुनरुच्चारित हुआ है, पर अभी कोई समाधान नहीं निकल पाया है। हमारी दृष्टि में यह ठीक नहीं है। शिक्षा प्रणाली गलत है, उसकी अपेक्षा यह कहना उचित होगा कि शिक्षा प्रणाली अपर्याप्त है। उसमें बौद्धिक विकास पर अधिक भार दिया गया है, भावात्मक विकास की उपेक्षा की गई है। यह असंतुलन ही सिरदर्द बना हुआ है। अनुशासन, चरित्र-विकास तथा अपराधी मनोवृत्ति के परिवर्तन के लिए बौद्धिक विकास की अपेक्षा भावात्मक विकास अधिक मूल्यवान् है। प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता और उच्चशिक्षा केवल प्रतिभाशाली छात्र—छात्राओं के लिए, इस विवेक से ही शिक्षा की सार्थकता बढ़

सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक में जीवन विज्ञान शिक्षा और समाज के संदर्भ में चर्चित है। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए इस चर्चा की उपयोगिता बुद्धिगम्य होगी। आचार्यश्री की अन्तःस्थ प्रेरणा, अणुव्रत और नैतिकता के व्यापक विकास की अभीप्सा इसमें परिलक्षित है। मुनि दुलहराजजी की श्रमनिष्ठा और सहज स्फूर्ति ने इसे पुस्तक का रूप दिया। 'सा विद्या या विमुक्तये' का सूत्र विमुक्ति का नया भाष्य प्रस्तुत कर सकेगा, ऐसा मेरा संकल्प है।

खरनोटा

युवाचार्य महाप्रज्ञ
२८ अप्रैल १९८६

अनुक्रम

● जीवन विज्ञान : शिक्षा के संदर्भ में

१. व्यक्तित्व निर्माण का उपक्रम : जीवन विज्ञान ३
२. व्यक्ति का समाजीकरण ८
३. शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन १६
४. शिक्षा और नैतिकता २३
५. शिक्षा और जीवन-मूल्य (१) २८
६. शिक्षा और जीवन-मूल्य (२) ३३

● जीवन विज्ञान : व्यापक संदर्भ में

१. व्यवस्था को बदलना ही पर्याप्त नहीं ३६
२. सा विद्या या विमुक्तये ४३
३. संवेग-नियंत्रण की पद्धति ५३
४. संवेद-नियंत्रण की पद्धति ६३
५. मूल्यपरक शिक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग ७०
६. परिवर्तन के हेतु : आलंबन और अभ्यास ७८
७. जीवन विज्ञान और मस्तिष्क प्रशिक्षण ८४
८. नैतिकता की समस्या ९१
९. विधायक भाव ९६
१०. विद्यार्थी जीवन और ध्यान १००
११. बुद्धि और अनुभव का संतुलन १०४

● जीवन विज्ञान : समाज के संदर्भ में

१. जीवन विज्ञान : मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रणाली १०६
२. जीवन विज्ञान : सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास का संकल्प ११३
३. जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज रचना का संकल्प ११६
४. समाज का आधार : अहिंसा की आस्था १३०
५. समाज का आधार : अहिंसा का विकास १४०
६. सामाजिक मूल्यों का आधार : सत्य १५१

जीवन विज्ञान : शिक्षा के संदर्भ में

व्यक्तित्व निर्माण का उपक्रम : जीवन विज्ञान

कुछ यात्री नौका से उतरे। उन्हें गांव पहुंचना था। एक व्यक्ति से पूछा–'क्या सूरज के अस्त होते होते हम गांव में पहुंच जाएंगे?' उसने कहा–'धीरे चलोगे तो पहुंच जाओगे, तेज चलोगे तो नहीं पहुंच पाओगे, बिलकुल उल्टी बात थी

कुछ लोग तेज चलने लगे। भूमि ऊबड़–खाबड़ और पथरीली थी। वे एक एक कर गिर गए। चोट लगी। वहीं रुक गए।

आज गति की इतनी तीव्रता हो गई है कि आदमी जल्दी पहुंचे, लेकिन कभी कभी ऐसा होता है कि जल्दी पहुंचने वाला बीच में ही लड़खड़ा जाता है। जैसे जैसे टेक्नोलोजी का विकास हो रहा है, वैसे वैसे आदमी अनुभव कर रहा है कि उसे पीछे मुड़कर देखने की जरूरत हो गई है। वह समझता है कि आदमी बहुत आगे बढ़कर भी बहुत पिछड़ गया है। आज आदमी पिछड़ गया और 'रोबोट' आगे बढ़ गया, कंप्यूटर हावी हो गया। दूसरे शब्दों में आदमी पीछे रह गया और यंत्र आगे आ गया। यह गति की तीव्रता का एक परिणाम है।

प्रश्न है परिवर्तन का। बहुत वर्ष पहले आचार्यश्री ने धर्मक्रान्ति की आवश्यकता महसूस की थी। प्रेक्षाध्यान, अणुव्रत, जीवन विज्ञान–ये सारे उसी धर्मक्रान्ति के चरण हैं। अणुव्रत से सब लोग परिचित हैं। प्रेक्षाध्यान से भी काफी लोग परिचित हैं, किन्तु जीवन विज्ञान सबके लिए नया है। यह धर्मक्रान्ति का एक सूत्र बना है। धार्मिक व्यक्ति आत्मा, परमात्मा, जगत् आदि आदि की दार्शनिक चर्चाएं करता है। यह धर्म जगत् की मुख्य चर्चा है और आज का धार्मिक जगत् इसी में लगा हुआ प्रतीत होता है।

जीवन विज्ञान का प्रारंभ आत्मा से नहीं होता। उसका प्रारंभ शरीर और श्वास से होता है। हमारा यह निश्चित मत है कि जो इन दोनों को सही ढंग से नहीं जानता, उचित मूल्यांकन नहीं करता, वह आत्मा–परमात्मा को नहीं जान सकता। यह बात उल्टी लग सकती है, पर यह एक मोड़ है। सभी धार्मिक ग्रन्थ यही बताते हैं कि शरीर

अशुचि का भंडार है, खराब है, अपवित्र है। यह हजारों बार सुना गया और दोहराया भी गया। एक नए कोण से देखा तो प्रतीत हुआ कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा और परमात्मा तक पहुंचने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। इसलिए जब तक शरीर को सही ढंग से नहीं समझा जाता, तब तक सारी बातें व्यर्थ बन जाती हैं।

प्रश्न होता है कि आज शिक्षा के क्षेत्र में चरित्र, अनुशासन और नैतिकता का विकास क्यों नहीं हो रहा है? अन्य क्षेत्रों में भी इनका विकास नहीं है, पर शिक्षा के क्षेत्र में इनका विकास न होना अखरता है, क्योंकि जीवन का निर्माण शिक्षा के माध्यम से ही होता है। ऐसा लगता है कि आज की शिक्षा में बौद्धिक विकास पर तो बहुत बल दिया जा रहा है, उसको बढ़ाने के अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं, किन्तु शेष का विकास उपेक्षित है। यह स्पष्ट है कि जैसे जैसे बुद्धि का विकास होता है, तर्क का विकास होता है वैसे वैसे अच्छाई करने की शक्ति भी आती है और बुराई करने की शक्ति भी आती है। वह बढ़ती है। आज ऐसा प्रतीत हो रहा है कि बौद्धिकता और तर्क ने चोरी, डकैती आदि का विकास किया है। बुद्धि और तर्क तो शस्त्र हैं। उन्हें जितना तेज करोगे उतने ही तेज बन जाएंगे। शस्त्र का प्रयोग शल्य चिकित्सा में भी होता है और किसी को मारने में भी होता है। बुद्धि और तर्क की भी यही अवस्था है। दार्शनिकों ने अनेक समाधान तर्क के बलबूते पर दिए और उन्होंने दर्शन को तर्कमय बना डाला। पर जब तक दर्शन समाधान नहीं बनता तब तक कुछ उपलब्ध नहीं होता।

एक वकील तेली के घर गया। वहां बैठा। बातचीत करने लगा। उसने पूछा—कोल्हू में जुते बैल की आंखों पर पट्टी क्यों बांध रखी है? तेली बोला—'साहब ! आंखों पर पट्टी इसलिए बांध रखी है कि बैल को पता न चले कि वह एक घेरे में चक्कर लगा रहा है। यदि उसे यह ज्ञात हो जाए तो वह वहीं लड़खड़ा जाएगा, आगे चल नहीं सकेगा।'

वकील ने दूसरा प्रश्न पूछा—'बैल के गले में घंटी क्यों बांध रखी है?' तेली बोला—'बैल चलता है तब घंटी बजती रहती है।

मुझे पता लग जाता है कि बैल चल रहा है। घंटी के न बजने का अर्थ होता है कि बैल रुक गया है।' वकील ने फिर पूछा–'बैल खड़े खड़े भी सिर हिलाकर घंटी बजा सकता है। तुम्हें कैसे पता चलेगा कि वह चल रहा है या रुका हुआ है?' तेली बोला–'महाशय ! वह बैल है, वकील नहीं है।

दर्शन समाधान का सूत्र है। तर्क समाधान नहीं देता। वह उलझा देता है। दर्शन का अर्थ है साक्षात्कार। जीवन विज्ञान में दर्शन को महत्व दिया गया और इसे परिवर्तन का माध्यम बनाया गया।

प्रत्येक व्यक्ति बदले, यह इष्ट है। नया भी बदले और पुराना भी बदले। दोनों बदल सकते हैं। पहले हम यह सोचें कि नए बच्चे कैसे बदलें? बदलने का एक विशेष अर्थ होगा। वह यह है कि हमारे पास दो शक्तियां हैं। एक है ज्ञान की शक्ति, विवेक की शक्ति (रीजनिंग माइन्ड)। दूसरी है संवेग की शक्ति। यह बहुत बड़ी शक्ति है। संवेग और विवेक–इन दोनों का संघर्ष त्रैकालीन संघर्ष है। परिवर्तन का सूत्र है–विवेक का संवेग पर नियंत्रण। आज रीजनिंग माइन्ड पर संवेग (इमोसन्स) हावी हो रहा है। यह न हो। आवेग या संवेग के द्वारा विवेक दबे नहीं, जागरूक रहे। जीवन विज्ञान की परिभाषा है–विवेक और संवेग का संतुलन, बौद्धिक और भावात्मक संतुलन। पूरे व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आवश्यक है कि पचास प्रतिशत विकास बौद्धिक हो और पचास प्रतिशत विकास भावात्मक हो। यह संतुलन होने पर ही पूरे व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

हमारे शरीर में ऐसे केन्द्र हैं जिनके द्वारा जीवन में परिवर्तन किया जा सकता है। शरीर में सारी शक्तियां हैं, लेकिन हम स्विच ऑन करना नहीं जानते। इसलिए वे सारी शक्तियां सुप्त ही रह जाती हैं, व्यर्थ चली जाती हैं। यदि हम स्विच ऑन करना जान जाएं तो शक्तियां जागृत हो सकती हैं। निषेधात्मक भावों को मिटाकर विधायक भावों को कैसे लाया जाए, उसकी सारी पद्धतियां शरीर में विद्यमान हैं। किन्तु आदमी ने इस दृष्टि से शरीर को न देखा है, न समझा है। हमने जीवन विज्ञान के संदर्भ में उसे समझने का प्रयत्न किया है।

पुराने लोगों को बदलने की बात भी महत्वपूर्ण है। आज हिंसा

और संग्रह की समस्याएं हैं, उन्हें भी बदलना है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उपेक्षा मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं करती बल्कि उनका विघटन करती है। समाज मूल्यों के आधार पर चलता है, उपेक्षा के आधार पर नहीं चलता। उपेक्षा का क्या परिणाम होता है, हम इस घटना से समझें।

एक गांव के पास तालाब था। वह पानी से लबालब भरा हुआ था। चारों ओर वृक्ष थे। वहां एक हाथी सुस्ता रहा था। लड़ते लड़ते दो गिरगिट वहां आए। वहां खड़े लोगों ने देखा, पर उन्होंने उपेक्षा बरती। लोगों ने सोचा, हमें क्या, लड़ते हों तो लड़ें। ये छोटे-से प्राणी लड़कर कौन सा अनर्थ घटित कर देगें! इधर-उधर दौड़ते-दौड़ते वे दोनों गिरगिट हाथी के कान में घुस गए। हाथी के खुजलाहट होने लगी। वह बेचैन हो उठा। आवेश बढ़ा और उसने कई पेड़ उखाड़ डाले। फिर उसने तालाब की पाल तोड़ दी। पानी बहा और वह गांव डूब गया।

कोई भी सामाजिक व्यक्ति उपेक्षा नहीं कर सकता। आचार्यश्री दिल्ली में थे। उन दिनों हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का युद्ध चल रहा था। कुछ प्रोफेसर आए। हिंसा अहिंसा की बात चली। आचार्यश्री ने एक कपड़ा हाथ में लेकर कहा—इसके दो छोर हैं। एक को हम परिग्रह का छोर कह सकते हैं और दूसरे को हिंसा का छोर कह सकते हैं। जब तक आदमी परिग्रह के छोर को पकड़े रहता है, तब तक हिंसा नहीं छूटती। परिग्रह नहीं है तो हिंसा होगी ही नहीं। हम हिंसा को बहुत महत्व दे देते हैं, किन्तु उसके मूल कारण को भुला बैठते हैं। हिंसा के लिए परिग्रह नहीं, परिग्रह के लिए हिंसा होती है। संग्रह के लिए हिंसा है, हिंसा के लिए संग्रह नहीं है। जब तक आदमी परिग्रही होता है, उसके लिए हिंसा अनिवार्य बन जाती है। वह न उसकी उपेक्षा कर सकता है और न उसको छोड़ सकता हैं। परिग्रह के होते हुए समाधान की बात जटिल हो जाती है।

परिग्रह का परिणाम है आग्रह और आग्रह का परिणाम है विग्रह। तीनों का एक चक्र बनता है—परिग्रह, आग्रह और विग्रह। जहां परिग्रह है वहां आग्रह होगा, पकड़ होगी। जब आग्रह होता है तब

विग्रह अनिवार्य बन जाता है। आग्रह के बिना विग्रह हो नहीं सकता।

आदमी केवल विग्रह को मिटाना चाहता है, यह कभी संभव नहीं है। परिग्रह और आग्रह का जब तक समाधान नहीं हो जाता तब तक विग्रह का समाधान नहीं मिल सकता। बसंत चला जाता है, पतझड़ आ जाता है। एक जाता है, दूसरा आ जाता है। यह क्रम चलता रहता है। न पतझड़ को रोका जा सकता है और न बसन्त को रोका जा सकता है। हम जड़ की बात को पकड़ें, परिग्रह का समाधान-सूत्र खोजें, आग्रह और विग्रह स्वतः निर्मूल हो जाएंगे।

परिग्रह ही सारी समस्याएं पैदा कर रहा है। राष्ट्र का परिग्रह, राज्य का परिग्रह, औद्योगिक साम्राज्य का परिग्रह—ये सारे स्वामित्व समस्याएं पैदा करते हैं। हिंसक समस्याओं से निपटने के दो उपाय हैं—हिंसा के प्रति हिंसा और अहिंसक प्रतिरोध। अहिंसक प्रतिरोध एक कारगर उपाय है। आज उसके लिए कोई मानसिक तैयारी नहीं है। उसका कोई प्रशिक्षण नहीं है। हिंसा का प्रशिक्षण प्रतिदिन दिया जा रहा है पर अहिंसा का प्रशिक्षण कहां मिलता है ? इस दयनीय स्थिति में हम कैसे कहें कि आज अहिंसा के द्वारा हिंसा का प्रतिकार किया जा सकता है? आज मान लिया गया है कि हिंसा का प्रतिकार हिंसा है। बुद्धि यही तो काम करती है कि वह एक हिंसा को मिटाने के लिए दूसरी हिंसा प्रस्तुत कर देती है इसलिए उपेक्षा वाली बात भी समझ में नहीं आती। अहिंसा की बात समझ में आती है, पर उसका पालन कठिनाई से परे नहीं है। तब कोरा विकल्प हिंसा का रह गया। हिंसा समाधानकारक विकल्प नहीं है। वह हिंसा को बढ़ावा देने वाला विकल्प है।

पुरानी पीढ़ी के रूपान्तरण की बात हम छोड़ दें। वह जैसे चल रही है, चलने दें। पर नई पीढ़ी के लिए आवश्यक चिन्तन करें। संभव है पुराने लोगों की समस्या भी सुलझ जाए।

जीवन विज्ञान का उपक्रम नए व्यक्तित्व के निर्माण का उपक्रम है। इससे नए समाज और नए जीवन की कल्पना पूरी हो सकती है।

व्यक्ति का समाजीकरण

हम स्वावलम्बन की बात करते हैं, किन्तु वास्तव में हमारा परस्परावलंबन है, जिसे हम कभी विस्मृत नहीं कर सकते। आदमी प्रातःकाल घूमने निकलता है। वृक्ष कुछ वायु छोड़ते हैं, वह आदमी के लिए प्राणवायु बन जाती है। आदमी प्राणवायु को भीतर ग्रहण करता है और निःश्वास के रूप में कार्बनडाइऑक्साइड का विसर्जन करता है। वृक्ष उसे ग्रहण करता है। वह वृक्ष को प्राण देने वाला बन जाता है। यह परस्परता है। केवल आदमी आदमी में ही परस्परता नहीं है किन्तु प्रत्येक प्राणी के साथ हमारी परस्परता है। एक प्राणी दूसरे से जुड़ा हुआ है। जो मनुष्य के लिए अनुपयोगी बन गया, वह वनस्पति जगत् के लिए उपयोगी बन गया और जो वनस्पति जगत् के अनुपयोगी बन गया, वह मनुष्य के लिए उपयोगी बन गया। सारी सृष्टि में एक संतुलन बना हुआ है। सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन्हें पृथक् या विश्लेषित नहीं किया जा सकता। परस्परता से सब कुछ जुड़ा हुआ है। एक के लिए उपयोगी, दूसरे के लिए अनुपयोगी। एक के लिए अनुपयोगी, दूसरे के लिए उपयोगी।

शिक्षा का कार्य है कि उससे परस्परता की चेतना का विकास हो। यही है समाजीकरण का विकास। यही है उसका महत्त्वपूर्ण सूत्र। हम यह अनुभव करते हैं कि स्वार्थ बहुत बढ़ा है, परमार्थ कम हुआ है। इसका कारण है कि आज की प्रचलित शिक्षा में परमार्थ की चेतना को उजागर करने वाले तत्त्व कम हैं और स्वार्थ-चेतना के तत्त्व अधिक हैं। आदमी की चेतना परमार्थ तक जाती ही नहीं, वह स्वार्थ तक ही सीमित रह जाती है। व्यक्ति वैयक्तिक स्वार्थ साधना चाहता है। यही समूचे संसार में हो रहा है। जिस समाज के व्यक्ति ने अपने वैयक्तिक स्वार्थ पर ध्यान अधिक दिया, वह समाज सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक—सभी दृष्टियों से पिछड़ गया। यदि एक अध्यापक छात्र पर पूरा ध्यान देता है तो छात्र का विकास होता है। यदि अध्यापक अपने स्वार्थ पर ध्यान देता है, स्व-केन्द्रित और

स्वार्थ-केन्द्रित रहता है तो उसके एक स्वार्थ के कारण पूरे समाज को नुकसान होता है और वह स्वयं भी उस नुकसान से बच नहीं सकता।

आचार्य भिक्षु ने इस तथ्य को समझाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण दृष्टांत दिया है। चार ब्राह्मणों को एक गाय दान में मिली। चारों का गाय में समुचित भाग था। चारों ने सोचा, इसका बंटवारा कैसे किया जाए ? सोचा, उपाय निकाला। यह तय हुआ कि एक एक दिन प्रत्येक व्यक्ति गाय को दुहे और दूध का उपभोग करे। पहले दिन जिसकी बारी थी उसने दूध दुहा और सोचा, मैं इस गाय को क्यों दाना-पानी दूं। मेरे पास तो यह कल रहेगी नहीं। कल जिसकी बारी है, वह इसे दाना-पानी देगा।

अगले दिन वाले ने भी दूध दुह लिया और दाना-पानी देने के समय उसी प्रकार सोचा जैसे पहले व्यक्ति ने सोचा था। चारों ने गाय का दूध दुहा पर उसे चारा-पानी नहीं दिया। गाय दुबली हो गई, दूध सूख गया। गाय के मरने की स्थिति आ गई।

जिस समाज में ऐसा चिंतन होता है कि दूध दुहा जाए, पर खिलाया-पिलाया न जाए, वह समाज विघटित हो जाता है। यह स्वार्थ-परायणता है। इस स्वार्थ का परमार्थीकरण परस्परता के सिद्धान्त पर किया जा सकता है। एक दूसरे को काट कर कोई भी आदमी जी नहीं सकता। एक व्यक्ति दूसरे कितने व्यक्तियों से जुड़ा होता है—कपड़ा बुनने वाला भी चाहिए, कपड़े सीने वाला और धोने वाला भी चाहिए, मोटरकार चलाने के लिए तेल भी चाहिए, बीमार के लिए दवाई और डाक्टर भी चाहिए, दवाई बनाने वाला और बेचने वाला भी चाहिए। परस्परता की बहुत लंबी शृंखला है। आदमी एक दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि उनका विस्तार सीमा पार गया है। इस स्थिति में जो व्यक्ति केवल अपना ही स्वार्थ देखता है, दूसरों की ओर से आंखें मूंद लेता है, ऐसा अज्ञान के कारण होता है। इसमें शिक्षा भी कारण बनती है। क्योंकि उसने परस्परता की चेतना को जगाया नहीं। आज स्वार्थ प्रतिदिन बढ़ रहा है, उसका विकास हो रहा है।

समाजीकरण का दूसरा घटक है—संवेदनशीलता का विकास।

जब तक यह सूत्र नहीं जुड़ता, तब तक सही अर्थ में समाज बनता ही नहीं। संवेदनशीलता का अर्थ है—एक दूसरे के कष्ट में सहभागिता की अनुभूति। जब यह समाज में आती है तब नैतिकता और प्रामाणिकता का विकास होता है, क्रूरता कम होती है। संवेदनशीलता का सूत्र जब टूट जाता है तब क्रूरता, अप्रामाणिकता, अनैतिकता, मिलावट आदि बुराइयां बढ़ती हैं। जब आदमी संवेदनशील नहीं होता तब वह दूसरों को कष्ट देने में संकोच नहीं करता। जिस व्यक्ति में यह भावना होती है कि दूसरों को कष्ट देने का अर्थ है स्वयं को कष्ट देना, वह आदमी कभी बुराई नहीं कर सकता, धोखा नहीं दे सकता, क्रूर व्यवहार नहीं कर सकता। जब यह चेतना सिकुड़ जाती है तब कोई भी क्रूर कर्म करने में हिचकिचाहट नहीं होती।

संवेदनशीलता है एक दूसरे के साथ एकात्मकता का व्यवहार करना, तादात्म्य की अनुभूति के लिए व्यक्तित्व का परिष्कार करना। इसके लिए प्रयत्न करना होता है।

संवेग वैयक्तिक तत्त्व है। इसका परिष्कार करना बहुत जरूरी है। जीवन विज्ञान की प्रक्रिया परिष्कार की प्रक्रिया है। संवेग के परिष्कार का अर्थ है निषेधात्मक भावों का परिष्कार। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा—ये सब निषेधात्मक भाव हैं। विधायक भावों का जितना विकास होगा, उतना ही संवेदनशीलता का सूत्र आगे बढेगा।

आनुवंशिकता का परिष्कार भी संवेदन-परिष्कार के द्वारा किया जा सकता है। आनुवंशिकता का प्रभाव व्यक्ति के चरित्र, नैतिकता और मानसिकता पर ज्यादा होता है।

एक लड़का बगीचे में घुसा और आम के वृक्ष पर चढ़कर आम तोड़ने लगा। वह चोरी से ही आया था। माली ने उसे देख लिया। माली बोला—'चोरी करते हुए तुझे शरम नहीं आती? कहां है तेरा बाप?' लड़का बोला—'वह दूसरे पेड़ पर आम तोड़ रहा है।

जब बाप एक पेड़ पर चढ़ा होता है तो लड़का दूसरे पेड़ पर क्यों नहीं चढ़ेगा?

नैतिकता आनुवंशिकता से प्रभावित होती है। संवेग-परिष्कार के द्वारा इसका भी परिष्कार किया जा सकता है। मनोविज्ञान ने

संवेगों की विस्तृत व्याख्या की है और व्यक्ति संवेगों से कितना प्रभावित होता है, यह भी विस्तार से बताया है। किन्तु संवेगों का परिष्कार कैसे किया जाए—इसका मनोविज्ञान की अपेक्षा अध्यात्म, धर्म और योग में अधिक वर्णन है। वहां अनेक तत्व बतलाए गए हैं। किन्तु कठिनाई यह है कि आज की शिक्षा में अध्यात्म, धर्म और योग को अनावश्यक माना गया है। आवश्यक नहीं मानने का कारण यह है कि धर्म संप्रदाय से आवृत है। धर्म की ज्योति संप्रदाय की राख से इतनी ढक गई है कि उसके अस्तित्व का भी बोध होना दुर्लभ हो गया है। इसलिए उसको शिक्षा में कैसे लिया जाए? 'कोठारी आयोग' के सचिव ने बताया—हमारी मीटिंगें होती हैं, पर जब धर्म का प्रश्न आता है तब बात [illegible]टक जाती है कि अमुक व्यक्ति का नाम नहीं आना चाहिए, अमुक [illegible]तार का नाम नहीं आना चाहिए। साम्प्रदायिकता के कारण अध्यात्म के मूल तत्त्व नीचे दब जाते हैं। संप्रदाय को इतना महत्त्व मिल गया कि अध्यात्म की शुद्ध धारा विलुप्त हो गई। उसे पकड़ पाना भी कठिन हो गया। यह बहुत बड़ी समस्या है। इसका समाधान करना हो तो संवेगों को संतुलित, व्यवस्थित और परिष्कृत करना होगा। इसके लिए हमें निश्चित रूप से अध्यात्म, धर्म और योग की शरण में जाना होगा। भारत के ऋषि-मुनियों, आचार्यों और साधकों ने बहुत लंबे अतीत में ऐसे तत्त्वों को खोजा था, जिनके द्वारा संवेगों को परिष्कृत किया जा सके। केवल ग्रन्थों के आधार पर नहीं, किंतु आज हम अनुभव के आधार पर भी कह सकते हैं कि ऐसा परिवर्तन निश्चित रूप से आ सकता है। संवेग बदलते हैं, उनका परिष्कार होता है, संवेदनशीलता विकसित होती हैं ।

अध्यात्म के क्षेत्र में ऐसी घटनाओं का प्रचुर उल्लेख है। सभी धर्म-सम्प्रदायों में ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिनकी संवेदनशीलता अपूर्व थी।

एक व्यक्ति ने रोटियां बनाकर रखीं। इतने में ही एक कुत्ता आया और रोटियां ले भागा। पीछे पीछे वह व्यक्ति, एक कटोरी में घी लेकर, कुत्ते के पीछे भागा। वह बोलता जा रहा था—'अरे भाई कुत्ते ! रोटियां लूखी हैं। मैं इन्हें घी से चुपड़ देता हूं, फिर खा लेना। लूखी

रोटियां मत खाना।' लोगों ने सुना। वह कुत्ते के पीछे भागता ही जा रहा था।

यह पागलपन जसा बात लगता ह। किंतु जिसमें संवेदनशीलता का विकास होता है, उसके लिए यह पागलपन नहीं सहज है। उसके मन में किसी प्रकार का छलावा नहीं होता। जब इतनी संवेदनशीलता जाग जाती है, तब समाज को सुधरने में समय नहीं लगता। नैतिकता, प्रामाणिकता और चरित्र का विकास सहज होने लगता है।

जब तक भारत में संवेदनशीलता की प्रखरता थी, तब तक उसका चित्र बहुत सुन्दर था। बाहर से आने वाले यात्रियों ने भारत का चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा था--भारत में घरों के ताले नहीं लगते। दरवाजे खुले रहते हैं। किसी को यदि चरित्र का शिक्षण लेना हो तो वह भारत आए और यहां से वह शिक्षा प्राप्त करे। ऐसा चित्र संवेदनशीलता के विकास से ही संभव है। जैसे जैसे संवेदनशीलता कम हुई, वैसे वैसे संवेग प्रबल हुए और सारी अनैतिकता बढ़ी।

आज के विद्यालयों की विशाल योजनाएं हैं। उनमें भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, खगोल--ये सारे विषय सिखाए जाते हैं, पर इनके साथ भावों के परिष्कार की बात नहीं है। इसे आवश्यक भी नहीं माना गया है। आज आवश्यक माना जाता है भाषा, साहित्य, कला आदि का अध्ययन जिससे अच्छी जीविका कमाई जा सके, बौद्धिक स्तर ऊंचा उठ सके, दूसरे राष्ट्रों के साथ अच्छा सम्पर्क स्थापित किया जा सके। व्यवसाय और सम्पर्क का विकास किया जा सकता है किन्तु मूल में जो चरित्र की कमी है, वह अन्य सब चीजों को खोखला बना डालती है। जब चरित्र नहीं होता तब नींव कमजोर हो जाती है।

पता नहीं, शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षानीति का निर्धारण करने वालों का क्या दृष्टिकोण बना कि उन्होंने विद्यालयों के लिए अनेक योजनाएं बनाईं, अनेक प्रारूप तैयार किए, पर किसी में भी चरित्र-विकास की योजना सन्निहित नही की, संवेग-नियन्त्रण की योजना सम्मिलित नहीं की। इसका मतलब यह हुआ कि हमारी नींव कमजोर रह गई और उस कमजोर नींव पर बढ़िया मकान बन गया। पर वह मकान

कभी भी धराशाही हो सकता है।

समाज में स्वामित्व भी अपेक्षित तत्त्व है। भूमि का स्वामित्व होता है, संपदा का स्वामित्व होता है, अन्यान्य पदार्थों का भी स्वामित्व होता है। स्वामित्व होना आवश्यक तत्त्व है। किंतु जब उस स्वामित्व की सीमा नहीं होती है तब वह समाज के लिए खतरनाक बन जाता है। स्वामित्व की सीमा होनी चाहिए, शिक्षा के द्वारा स्वामित्व का समाजीकरण होना चाहिए। आज की जितनी आर्थिक समस्याएं हैं, वे स्वामित्व की समस्याएं हैं। भारत का यह प्राचीन सूत्र है–सम्पत्ति सामाजिक होती है, वैयक्तिक नहीं। मार्क्स ने कोई नई बात नहीं कही। उनका भी सूत्र है–सम्पदा सामाजिक होती है। भारत के आचार्यों ने जो एक बात कही, वह मार्क्स भी नहीं कह पाया। भागवत का एक श्लोक है –

यावद् भ्रियेत जठरं, तावत् सत्त्वं हि देहिनाम्।
योऽधिकं चाभिमन्येत, स स्तेनो वधमर्हति।।

जितने से पेट भरा जा सके, उस पर स्वामित्व करना ही विहित है। जो इससे अधिक संग्रह करता है, वह चोर है, वध्य है।

आज का सारा झगड़ा स्वामित्व की परिधि में चल रहा है। आज के आदमी का संस्कार तो यह है कि मैं खाऊं, बेटा पोता भी खाए, इतना ही नहीं, सात पीढ़ियां भी उसका उपभोग करे। संस्कार तो सात पीढ़ियों का है और सरकार चाहती है कि स्वामित्व की उचित सीमा हो। इस स्थिति में आदमी संस्कार की बात मानेगा या सरकार की बात मानेगा? जब तक संस्कार नहीं बदलता, तब तक दो नंबर के खातों को और काले धन को नहीं रोका जा सकता।

एक राजनेता ने कहा–काला धन मिटना चाहिए। मैं कहता हूं, धन नहीं, मन होता है काला। मनुष्य का काला मन मिटना चाहिए। काले मन को मिटाए बिना काले धन को मिटाने की बात नहीं सोची जा सकती। जब तक मन काला है तब तक धन काला आता रहेगा, जाता रहेगा। उसे कोई कानून नहीं मिटा सकता। कानून के सामने आते ही प्रत्यक्षतः चलने वाली बुराई भूमिगत होकर चलने लगती है। बुराई सामने न हो, यह है कानून का परामर्श। कानून को आपत्ति तब

होती है जब बुराई प्रगट में होती है, पकड़ में आती है। भूमिगत आप कुछ भी करें, कानून को कोई आपत्ति नहीं होती। किसी ने बुराई की, अपराध किया, गवाह नहीं मिला तो वह अपराध से छूट जाएगा। कानून वहां पंगु बन जाता है। बुराई तभी मिट सकती है जब मन का कालापन मिटता है। मन के कालेपन को मिटाना शिक्षा का काम है।

भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए आचार-संहिता दी। उसका एक व्रत है—भोगोपभोग व्रत। इसका अर्थ है, भोग की सीमा करना। संपत्ति कितनी ही हो सकती है, पर वैयक्तिक भोग की सीमा वांछनीय है।

विश्व के धनाढ्य व्यक्ति रोकफेलर की बेटी लंदन गई। वह बाजार में कुछ खरीदना चाहती थी। अनेक फोटोग्राफर साथ में हो गए। वह एक जूते की दुकान पर गई। चप्पल देखे। उनका मूल्य अधिक था। उसने कहा—मैं खरीद नहीं सकती, मूल्य अधिक है। पत्रकार साथ में था। उसने पूछा—'आप तो अरबपति की लाड़ली हैं, फिर पैसे की बात क्यों करती हैं? रोकफेलर का संस्थान लाखों-करोड़ों का दान करता है। इस स्थिति में आपकी बात समझ में नहीं आती।' वह बोली—'मैं एक अरबपति की लड़की हूं। व्यापार में करोड़ों रुपये लग सकते हैं, पर हमारा व्यक्तिगत बजट बहुत कम है। हम अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिए अधिक खर्च नहीं कर सकते।

इस घटना के संदर्भ में मुझे भगवान् महावीर के द्वारा निर्धारित श्रावक आचार-संहिता के एक व्रत की स्मृति होती है। व्रत है—भोग-उपभोग की सीमा। भगवान् महावीर का अनन्य श्रावक था आनन्द, करोड़ों करोड़ों का स्वामी। अपार संपदा, विस्तृत व्यवसाय, कुटुम्ब का अधिपति। पर उसका व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त सीधा और सादगीपूर्ण था। स्वयं के रहन-सहन और खान-पान पर बहुत सीमित व्यय होता था।

संपदा के सीमाकरण की चेतना को जगाना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

स्वतंत्रता की चेतना भी शिक्षा के द्वारा जगाई जाती है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं कि उस स्वतंत्रता के आधार पर व्यक्ति

जो कुछ चाहे कर सके। समाज में जीने वाला व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो सकता। परतंत्रता भी उसके साथ जुड़ी रहती है। जहां एक से दो होते हैं, वहां परतंत्रता सापेक्ष स्वतंत्रता है। मोक्ष में निरपेक्ष स्वतंत्रता हो सकती है। यह परतंत्रतायुक्त स्वतंत्रता है। मोक्ष ही पूर्ण स्वतंत्रता का स्थान है। यहां का जीवन कितने अनुबन्धों और प्रतिबंधों से जुड़ा हुआ है? यहां पूर्ण स्वतंत्रता की बात प्राप्त नहीं होती। जो व्यक्ति अहंकार के वशीभूत होकर यहां पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ खोजने लग जाता है, वह कठिनाई पैदा करता है।

एक साहित्यकार था। अहंकारवश वह अपनी पत्नी से कहने लगा—देखो, मेरे लेखों के कारण कितनी पत्र-पत्रिकाएं बिकती हैं। मेरे साहित्य के कारण कितनी पुस्तकें बिकती हैं। मेरे ही कारण साहित्यिक गतिविधियां चल रही हैं। पत्नी ने सुना। उसने सोचा, अहंकार से बोल रहे हैं। वह धीमे से बोली—आप ठीक कह रहे हैं। आप ही के कारण हमारा यह घर भी बिक गया। अब न जाने और क्या क्या बिक जायेगा?

लेखन के कारण पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं बिक सकती हैं तो घर से उदासीन रहने के कारण घर भी बिक सकता है और सब कुछ बिक सकता है। सारा जुड़ा हुआ है। स्वतंत्रता की सीमा को समझना आवश्यक है।

समाजीकरण का मूल आधार है—संवेगों का परिष्कार। यद्यपि संवेग वैयक्तिक होते हैं, फिर भी वे समाज को प्रभावित करते हैं। एक लड़के का गुस्सा पूरे परिवार को विघटित कर देता है। पिता का अहं और क्रोध पूरे राष्ट्र को विनाश के कगार पर ला खड़ा करता है। महामात्य चाणक्य ने लिखा है—जो नेता अपने संवेगों का नियन्त्रण नहीं रख सकता, वह पूरे राष्ट्र को ले डूबता है। इसलिए यह आवश्यक है कि संवेगों का परिष्कार किया जाए। शिक्षा को इसका माध्यम बनाना चाहिए।

शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन

'कला कला के लिए'—इस पर कला के क्षेत्र में पर्याप्त चर्चाएं हुई हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी इस विषय पर चर्चा हुई है और होनी भी चाहिए। 'ज्ञान ज्ञान के लिए' है तो फिर पढ़ाई की परिसम्पन्नता विद्यालय में ही हो जाएगी। वहां से निकलने के बाद उसकी कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। 'ज्ञान ज्ञान के लिए' ही नहीं, किन्तु परिवर्तन और विकास के लिए होना चाहिए। पहले जानना है। जानने के बाद फिर बदलना है, नया निर्माण करना है। यदि विकास और नव-निर्माण की प्रक्रिया ज्ञान के साथ जुड़ी हुई न हो तो ज्ञान बहुत सीमित रह जाएगा। नया निर्माण और विकास के लिए ज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है।

जानो और करो। दोनों को कभी विभक्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान और प्रयोग को अलग से नहीं देखा जा सकता। हमारी प्रक्रिया में ज्ञानात्मक प्रयोग और प्रयोगात्मक प्रयोग दोनों जुड़े हुए हैं। दोनों को अलग देखने से हमारा दृष्टिकोण एकांगी बन जाएगा। हमें जगत् को जानना और बदलना है, व्यक्ति को जानना और बदलना है, समाज को जानना और बदलना हैं। व्यक्ति बदले, समाज बदले—यह हमारा बहुउद्देशीय घोष है। ये दोनों ही बदलने चाहिए। बदलने की प्रक्रिया पर हम विचार करें।

१. दैहिक विकास

जब शिशु तीन-चार वर्ष का होता है तब से शिक्षा का संबंध जुड़ जाता है। उसके विकास का भी क्रम है। वह पहले चलना सीखता है, बोलना सीखता है। उसमें शारीरिक प्रवृत्तियों का विकास होता है। वह खाना भी सीख लेता है। इसमें शिक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। 'शिक्षा' शब्द भिन्न है। 'सीखना' शब्द भिन्न है। बच्चा मां से, भाई से, बहिन से सीखता है। यह शिक्षा का कार्य नहीं है। वह देखता है, अनुकरण करता है और सीखता जाता है। शिक्षा का विशेष अर्थ हो गया कि जहां संगठित एवं समन्वित रूप से सीखा जाता है,

वह है शिक्षा। पर बच्चा पहले चरण में अनुकरण से सीखता है और शारीरिक प्रवृत्तियों का विकास करता है। दूसरे चरण में वह इन्द्रियों का विकास करता है। वह इन्द्रियों का उपयोग करना जान लेता है।

२. इन्द्रिय विकास

इन्द्रियों के विकास में दो स्थितियां बनती हैं—प्रियता का भाव और अप्रियता का भाव। वह प्रिय-अप्रिय का बोध करने लगता है। वह चीनी खाना पसन्द करता है, नीम का पत्ता खाना नहीं चाहता। चीनी मीठी होती है, नीम कडुवा होता है। उसमें प्रिय-अप्रिय का संबोध स्पष्ट हो जाता है। इन्द्रिय विकास के साथ संवेदन और संवेग का प्रिय और अप्रिय के साथ संबंध हो जाता है।

३. मानसिक विकास

बच्चा और आगे बढ़ता है। उसमें अच्छा-बुरा का बोध स्पष्ट होता जाता है। वह जानने लगता है, चीनी प्रिय होती है, पर अच्छी नहीं होती। उससे दांत खराब होते हैं, आंतें खराब होती हैं, हड्डियां कमजोर हो जाती हैं। नीम का पत्ता कडुवा होता है, पर स्वास्थ्यप्रद होता है। बच्चे का मानसिक विकास होता है और ये सारी बातें जानने लग जाता है।

इन तीनों—दैहिक विकास, इन्द्रिय विकास और मानिसक विकास में अनुकरण, वातावरण और परिवेश से तथा कुछ सुनी-सुनाई बातों से सीख लिया जाता है।

४. बौद्धिक विकास

बच्चा स्कूल में जाता है तब वहां उसे लिपि, भाषा, साहित्य आदि का ज्ञान कराया जाता है। उससे उसका बौद्धिक विकास होता है और उसमें विश्लेषण की शक्ति आती है। मानसिक विकास से अच्छे-बुरे का ज्ञान तथा संवेदन आदि की जानकारी होती है। बौद्धिक विकास से विश्लेषण, नीति-निर्धारण आदि की शक्तियां जागती हैं। बुद्धि का काम है—व्यवहार का निश्चय करना, विवेक करना। बौद्धिक विकास के साथ बच्चे की क्षमता बहुत बढ़ जाती है।

विद्यालय का जीवन बौद्धिक विकास का जीवन है। पहले तीन विकासों में विद्यालय का कोई संबंध नहीं रहता। वर्तमान शिक्षा

बौद्धिक विकास के साथ जुड़ी हुई है। बौद्धिक विकास में रूपान्तरण की क्षमता कम है। उसमें निर्णय और निश्चय की क्षमता है, विवेक करने की क्षमता है, पर परिवर्तन की क्षमता नहीं है। बुद्धि के द्वारा बदलने की क्षमता कहां से आएगी?

एक बच्चा बगीचे में गया। वहां एक पट्ट पर लिखा हुआ था–'फूल तोड़ना मना है।' उसकी बुद्धि प्रखर थी। उसने फूल नहीं तोड़ा, पौधे को ही उखाड़ डाला। माली आकर बोला–'अरे! यह क्या किया? पट्ट पर क्या लिखा है?' बच्चे ने कहा–'जो लिखा हुआ है उसी के अनुसार काम किया है। लिखा है–फूल तोड़ना मना है। मैंने फूल नहीं तोड़े। पौधे को उखाड़ने की मनाही नहीं है। मैंने पौधा उखाड़ा है, फूल को हाथ नहीं लगाया।'

बुद्धि का काम है बात को तर्क में उलझाना, न कि सुलझाना। यह उसकी स्वाभाविक प्रक्रिया है। जो जितनी सीमा में काम कर सकता है वह उतनी ही सीमा में काम करेगा। बुद्धि की अपनी सीमा है। परिवर्तन उसकी सीमा के अन्तर्गत नहीं है।

जीवन विज्ञान की पद्धति में इस प्रश्न पर गंभीरता से चिंतन किया गया है कि आदमी बदलता क्यों नहीं? विद्यार्थी में नैतिकता, प्रामाणिकता और चरित्र का विकास क्यों नहीं होता? ऐसा लगता है कि बदलाव लाने वाला जो तत्त्व है वह अभी शिक्षा प्रणाली में समाविष्ट नहीं है।

आर्थिक व्यवस्था को बदलना सामाजिक प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ है। आज की अर्थ-व्यवस्था वह बदलेगा जिसके हाथ में अर्थनीति का नियंत्रण हो। आदमी को नियंत्रण का पालन करना है। कैसे करेगा? बुद्धि के द्वारा बात आई और मस्तिष्क में पैठ गई, किंतु वह बदलने के तत्त्व के पास पहुंची ही नहीं। इसलिए अर्थ-व्यवस्था बदली नहीं। इसका मूल कारण है लोभ। लोभ एक संवेग, इमोशन है। वह बदलने में बाधा उपस्थित करता है। आदमी में इतना लोभ है कि वह अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है और नियंत्रण, नियमन और कानून को नीचे रख देना चाहता है। यहां बदलने की बात आती है बुद्धि के स्तर पर। बुद्धि को बदलना नहीं है। बदलना है संवेग को,

लोभ को, भाव को। पर आदमी उसकी बात को स्वीकार ही नहीं कर रहा है। दोनों का संघर्ष है और इसी के आधार पर कथनी और करनी की दूरी बराबर बनी रहती है।

कथनी और करनी में दूरी क्यों है, इस पर हम चिंतन करें। यदि बौद्धिक विकास के साथ इस समस्या का समाधान होता तो आज के बौद्धिक वर्ग—वैज्ञानिक, इंजीनियर, वकील आदि की कथनी और करनी समान होती है किंतु देखा जाता है कि उनमें भी कथनी-करनी की अपार दूरी है। उनका बुद्धि का स्तर बहुत विकसित हो गया, पर भावना के स्तर पर उन्हें बालक ही कहा जाएगा। जो बहुत बड़ा शब्दशास्त्री बन गया, पर यदि उसने लिंगानुशासन नहीं पढ़ा है तो बच्चा ही है। इसी प्रकार आदमी ने कितना ही बौद्धिक विकास कर लिया, किंतु वह संवेद और संवेग के लिंगानुशासन से अजान है तो वह बालक ही है। संवेद और संवेग के नियंत्रण को जाने बिना उसका ज्ञान व्यर्थ है। जब तक यह नियंत्रण की क्षमता उसमें विकसित नहीं होती तब तक कथनी और करनी की दूरी, ज्ञान और आचरण की दूरी को भगवान् भी नहीं मिटा सकते। शिक्षा का काम है इनमें समन्वय और सामंजस्य स्थापित करना। ज्ञान और आचरण के समन्वय का अर्थ है बौद्धिक एवं भावात्मक विकास में समन्वय। यह होने पर कथनी और करनी की समस्या का समाधान हो सकता है।

साम्यवादी प्रणाली में व्यक्तिगत नियंत्रण पर बहुत ध्यान दिया गया पर आदमी बदला नहीं। जब तक हमारा ध्यान संवेगों के नियंत्रण और अनुशासन पर केन्द्रित नहीं होगा, तब तक समाज में परिवर्तन लाने की बात नहीं आएगी। साम्यवादी शिक्षाप्रणाली में यह माना गया कि ज्ञान केवल जानने के लिए, विश्व का पुनर्निमाण करने के लिए और समाज को बदलने के लिए है। किंतु शिक्षा के द्वारा यह नहीं हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि शिक्षा में कहीं न कहीं त्रुटि है और वह त्रुटि यह है कि शिक्षा में भावात्मक विकास की बात छूट गई है।

आज हमें इस बात पर ध्यान केन्द्रित करना है कि शारीरिक विकास के साथ बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास का संतुलन

बने। व्यक्ति इन्द्रिय और बुद्धि के स्तर पर नहीं चलता। वह चलता है भाव के स्तर पर। आदमी जो कुछ कर रहा है, उसका संचालन भीतर से हो रहा है। अर्जुन ने कृष्ण से पूछा–'भगवान ! आदमी पाप करता है। उसका प्रेरक, प्रवर्तक कौन है?' कृष्ण ने कहा–'आदमी को पाप में प्रेरित करता है काम और क्रोध।' ये निषेधात्मक भाव हैं।

हम बुद्धि के स्तर पर समस्या को सुलझाना चाहते हैं। इसमें कोई संगति नहीं है। दर्शन पर यह आरोप लगाया गया कि वह जानने की प्रक्रिया है, बदलने की प्रक्रिया नहीं है। यह सचाई नहीं है। जैन साहित्य में शिक्षा का जो प्रारूप मिलता है, उसमें दो शब्द व्यवहृत हुए हैं–ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। शिक्षा ग्रहण करो और उसका प्रयोग करो। शिक्षा के साथ अभ्यास जुड़ा हुआ है। आज अभ्यास छूट गया, संवेग पर नियंत्रण की बात छूट गई और अतिरिक्त भार बौद्धिक विकास पर आ गया।

५.भावात्मक विकास

आज अपेक्षा है कि शिक्षा के साथ भावात्मक विकास का क्रम जुड़े। इसके बिना हम जिस समाज की परिकल्पना करते हैं, वह कभी संभव नहीं है। बौद्धिक और आर्थिक विकास के साथ साथ अपराध, हिंसा, आक्रामकवृत्ति, आवेग, पारिवारिक कलह आदि बढ़ रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है? शिक्षा के द्वारा इन सब वृत्तियों में कमी आनी चाहिए पर आज ऐसा नहीं हो रहा है। आज के विकसित राष्ट्रों में अपराधों की बाढ़-सी आ रही है। पागलपन बढ़ रहे हैं। जहां शत-प्रतिशत लोग शिक्षित हैं, वहां भी ऐसा हो रहा है। आश्चर्य इस बात का है कि भारत की शिक्षा-प्रणाली भी बुद्धि तक सीमित है। यह बात हमने पहले ही समझ ली थी, लेकिन हम उसको नकारते चले जा रहे हैं, समस्या को स्वयं पैदा कर रहे हैं। जब तक भाव-जगत् में शिक्षा का प्रवेश नहीं होगा तब तक शिक्षा के द्वारा समाज को बदलने की संभावना नहीं की जा सकती।

पिता पुत्र को दूध का गिलास पीने के लिए देता। गिलास तो वही, पर धीरे धीरे दूध कम होता गया। पुत्र ने दूध घटने की बात पूछी। पिता ने कहा–अकाल है। चरने के लिए घास नहीं मिलती है।

लड़के ने कहा—मैं उपाय करता हूं। उसने गाय की आंखों पर हरे रंग का चश्मा लगा दिया। अब गाय को सूखा घास भी हरा दिखने लगा। वह चरने लगी। दूध बढ़ गया।

गाय में भावात्मक परिवर्तन हुआ। वह घास भी अधिक खाने लगी और दूध भी अधिक देने लगी।

हम बाह्य को जानना ज्यादा पसंद करते हैं। हमें तो कठपुतली ही दिखाई देती है, जो बोलती है, नाचती है, गाती है, खेलती है। उसको जो पर्दे के पीछे से संचालित कर रहा है, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। हमारे जीवन का संचालन भाव करते हैं, जो पर्दे के पीछे हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं है। जब तक शिक्षा के साथ भाव-जगत् का संबंध नहीं जुड़ेगा तब तक न उपद्रव मिटेंगे, न हड़तालें समाप्त होंगी और न अनुशासन आएगा। हम बुद्धि के शस्त्र को तेज करते जा रहे हैं। उसका काम है काटना। नंगी तलवार बहुत खतरनाक होती है। उसके लिए म्यान चाहिए। म्यान में पड़ी तलवार खतरनाक नहीं होती। बुद्धि को हमने नंगी तलवार तो बना डाला। अब उस पर म्यान का खोल डालना आवश्यक है जिससे कि सीधा खतरा न हो। यह है भाव-जगत् की प्रक्रिया।

जीवन विज्ञान की चर्चा चल रही है। इसका अर्थ पूरी शिक्षा-प्रणाली को बदलना नहीं है, बौद्धिक विकास को अवरुद्ध करना नहीं है। बौद्धिक विकास जरूरी है। उसके बिना आदमी पशुता की ओर चला जाएगा। जीवन विज्ञान का अर्थ इतना ही है कि बौद्धिक विकास के साथ भावात्मक विकास का सन्तुलन हो। यह होने पर शिक्षा-प्रणाली का कार्य पूरा होता है।

भावात्मक विकास का एक पहलू है—नैतिक विकास। इसके दो रूप हैं—सामाजिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता। एक समाज या संस्था कुछ नियम, उपनियम बनाती है। यह ध्यान नहीं रखती कि व्यक्ति की वासना, वृत्तियां, संवेग कैसे हैं? विचार किए बिना वह नियम बना देती है। यह सामाजिक नैतिकता और अनुशासन है। साम्यवादी देश का एक नैतिक सूत्र बन गया है कि व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। उसमें व्यक्तिगत वृत्तियों, वासनाओं और संवेगों का

ध्यान नहीं रखा गया। आखिर व्यक्ति व्यक्ति होता है। उसमें वासना है, लोभ की वृत्ति है। उनकी उपेक्षा कर व्यक्तिगत स्वामित्व का नियंत्रण कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि वह आर्थिक दौड़ में पिछड़ गया। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक हो जाता है, पुरुषार्थ कम हो जाता है। फलतः आर्थिक पिछड़ापन आ जाता है।

वैयक्तिक नैतिकता का अर्थ है– व्यक्तिगत संवेगों और वृत्तियों पर नियंत्रण करना।

शिक्षा के साथ दोनों प्रकार की नैतिकता का संबंध होता है। विद्यार्थी समाज में जीता है। उसे सामाजिक प्राणी बनना है। उसको समाज के नियमों को मानना है, राष्ट्र के नियमों का भी पालन करना है, क्योंकि वह राष्ट्र में रहता है। यदि शिक्षा के द्वारा उसकी यह मानसिकता नहीं बनती है तो वह अच्छा विद्यार्थी नहीं बन सकता। इससे भी अधिक जरूरी है संवेगों पर नियन्त्रण करना। यह नैतिकता का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। यह शिक्षा के साथ जुड़े।

शिक्षा के साथ मानसिक शक्ति के विकास की बात भी जुड़ी होनी चाहिए। इस शक्ति का विकास जिस राष्ट्र, समाज या व्यक्ति में नहीं होता, वह कमजोर हो जाता है। आज के व्यक्ति में मनोबल का विकास और भावात्मक विकास–दोनों न्यून हैं। शिक्षाशास्त्री इनके विकास के लिए नई नई पद्धतियां प्रस्तुत कर रहे हैं। आज अपेक्षा है कि सामाजिक परिवेश बदले और वर्ग-संघर्ष, वैमनस्य आदि समस्याएं समाहित हों। इसके लिए भावात्मक विकास अपेक्षित है।

शिक्षा और नैतिकता

समाज के साथ नैतिकता का प्रश्न अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। यदि समाज में परस्परता और नैतिकता न हो तो समाज भयंकर समाज बन जाता है। जिस समाज में एक दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार होता है, वह कल्याणकारी समाज बन जाता है। सबका एक स्वप्न है कि कल्याणकारी समाज का निर्माण हो। पर नैतिकता के बिना यह संभव नहीं है। नैतिकता का प्रश्न अपने आप में बहुत जटिल है। इसकी अनेक दार्शनिक चर्चाएं हुई हैं, आचार-संहिताएं बनी हैं और अनेक परिभाषाएं हुई हैं।

कांट ने नैतिकता के तीन आधार माने हैं–

१. निरपेक्ष मूल्यों में आस्था

२. मरणोपरान्त जीवन में आस्था

३. ईश्वरीय आस्था

नैतिकता का सापेक्ष मूल्य नहीं है। उसका निरपेक्ष मूल्य है। कांट ने इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है।

मरणोपरान्त जीवन में आस्था होती है तब नैतिकता को बल मिलता है। जब आदमी जान लेता है कि मरने के बाद भी जीवन रहता है, किए हुए कर्मों का फल भुगतना होता है, तो जीवन में नैतिकता अंकुरित होती है।

ईश्वरीय आस्था भी बहुत मूल्यवान् है। जिसकी ऐसी सत्ता में आस्था हो जो परमसत्ता एवं विशुद्ध हो, वहां से नैतिकता फलित होती है।

नैतिकता का दूसरा क्रम राष्ट्र के साथ जुड़ा हुआ है। जब व्यक्ति में राष्ट्र के प्रति गहरा आकर्षण पैदा हो जाता है तब वह राष्ट्र के प्रतिकूल कोई आचरण करना नहीं चाहता। उस स्थिति में नैतिकता विकसित होती है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी नैतिकता की काफी चर्चा होती है। प्रत्येक व्यक्ति में निरपेक्ष मूल्यों की आस्था पैदा की जा सके, ईश्वर में आस्था

पैदा की जा सके, यह अपेक्षित है। पर विभिन्न प्रकार के लोग होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का मोह नहीं छोड़ता। धार्मिक आस्थाएं अलग अलग होती हैं। वहां ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि ईश्वरीय सत्ता में आस्था पैदा हो। इसलिए शिक्षा के साथ नैतिकता का विचार–विमर्श करते समय हमें एक दूसरा आधार खोजना होगा। वह आधार खोजा है शारीरिक अनुशासन। जीवन विज्ञान के क्षेत्र में दूसरे सारे संदर्भों और परिभाषाओं से हट कर नैतिकता को शरीर के साथ जोड़ा है। वह नैतिकता का बहुत बड़ा हेतु बन सकता है। यह स्पष्ट है कि नैतिकता का एक ही स्रोत या एक ही कारण नहीं माना जा सकता। अलग अलग कारण हो सकते हैं, किन्तु शारीरिक अनुशासन बहुत बड़ा कारण है।

प्राचीन काल में परिवर्तन की प्रक्रिया पर चिन्तन चला तो दो समाधान सामने आए अध्यात्म के क्षेत्र में–वैराग्य और अभ्यास, निसर्ग और अधिगम। वे व्यवहार के क्षेत्र में भी घटित हो सकते हैं।

ये दो विकल्प हैं। निसर्ग और वैराग्य वाली बात आनुपातिक दृष्टि से बहुत कम होती है। बहुत कम व्यक्ति वैराग्य को प्राप्त होते हैं और बहुत कम व्यक्ति निसर्गतः कुछ प्राप्त कर सकते हैं। हमारे विचार-विमर्श का विषय अभ्यास ही बन सकता है, निसर्ग और वैराग्य हमारे लिए विमर्शयोग्य विषय नहीं है।

प्रश्न है कि शिक्षा में नैतिकता का उपाय क्या हो सकता है? विद्यार्थी को नैतिकता का उपाय देना, अभ्यास देना, शिक्षा का परम कार्य है। यदि शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी को नैतिकता का बोध नहीं कराया जाता, अभ्यास और उपाय नहीं दिया जाता तो मानना होगा कि नैतिकता और शिक्षा का कोई संबंध ही नहीं है। पर आज उसकी अनिवार्यता महसूस हो रही है कि नैतिकता शिक्षा के साथ अवश्य जुड़े, उसका उपाय और अभ्यास जुड़े। इस प्रक्रिया में सबसे पहला तत्त्व है–शरीर-बोध और शारीरिक अभ्यास। शारीरिक अनुशासन के बिना मानसिक और भावानात्मक अनुशासन संभव नहीं है और उसके बिना नैतिकता संभव नहीं है। शरीर और मन दोनों जुड़े हुए हैं। शरीर को छोड़कर मन की और मन को छोड़कर शरीर की व्याख्या

नहीं की जा सकती। दोनों में इतना गहरा संबंध है कि एक दूसरे के बिना एक दूसरे की गति ही नहीं है।

शरीर को समझने के लिए दो तंत्रों पर विशेष ध्यान देना जरूरी है। एक है नाड़ीतंत्र और दूसरा है ग्रंथितंत्र।

हमारे स्वभाव और भाव बदलते रहते हैं। एक आदमी अभी प्रसन्न है, थोड़ी देर बाद उदास हो जाएगा, थोड़ी देर बाद क्रुद्ध हो जाएगा। परिवर्तन होता रहता है। ऐसा क्यों होता है, इस पर शरीरशास्त्रियों ने भी विचार किया है। ग्रीक शरीरशास्त्री हिपोक्रेटस ने मनुष्यों को चार श्रेणियों में बांटा है– १. वातवृत्ति २. पित्तवृत्ति ३. कफवृत्ति ४. रक्तवृत्ति। वातवृत्ति वाला व्यक्ति उदास और खिन्न रहता है। पित्तवृत्ति वाला गुस्सैल होता है। वह बात-बात में उत्तेजित और कुपित हो जाता है। कफवृत्ति वाला ठंडा होता है, पर लालची अधिक होता है। रक्तवृत्ति वाला सदा प्रसन्न रहता है। हमारे शरीर में चार द्रव्य हैं–वात, पित्त, कफ और रक्त। इनके आधार पर मनुष्य चार श्रेणियों में बंट गया। आदमी की प्रवृत्ति और स्वभाव के पीछे ये तत्व काम करते हैं। आदमी पहले चिड़चिड़ा नहीं था, पर बाद में चिड़चिड़ा हो जाता है। शरीरशास्त्री कहेगा कि कहीं इसका लीवर तो खराब नहीं है। होम्योपैथिक डाक्टर भी स्वभाव के आधार पर निर्णय लेगा कि यह चिड़चिड़ा है तो इसका लीवर खराब होना चाहिए। बीमारियों के कारण आदमी का भाव बदल जाता है, स्वभाव बदल जाता है। ग्रंथियों का संतुलन बिगड़ने पर भी स्वभाव बदल जाता है। जब थायरायड ग्रंथि ठीक काम नहीं करती है तब उत्तेजना आने लग जाती है, निराशा छा जाती है। गोनाड्स के अतिसक्रिय होने से आदमी स्वार्थी बन जाता है। जब स्वार्थ, उत्तेजना, क्रोध आदि हैं तो फिर नैतिकता की बात कैसे होगी? नैतिकता में बहुत बड़ी बाधा है स्वार्थ। स्वार्थ की बात कम हो जाती है तो अनैतिकता स्वतः कम हो जाती है, समाप्त हो जाती है।

बहुत प्रयत्न करने पर भी अनैतिकता का प्रश्न समाहित नहीं हो रहा है। इसका कारण यह है कि हमारा ध्यान वातावरण और परिवेश तक केंन्द्रित है। हम सारी समीक्षा वातावरण, परिस्थिति और

परिवेश के आधार पर करते हैं। मनोविज्ञान में हेरिडिटी—आनुवंशिकता के आधार पर विचार किया गया। आनुवंशिकता के कारण भी यह होता है। किन्तु उससे आगे जो विज्ञान की भाषा में सोचता है, उसके लिए कोई आवश्यक नहीं, क्योंकि वहां प्रयोग और परीक्षण की सीमा आ जाती है। आगे कुछ बढ़ता नहीं। प्रश्न अनबुझे रह जाते हैं।

आज नैतिकता का विकास क्यों नहीं हो रहा है? क्रूरता क्यों नहीं मिट रही है? इसका दार्शनिक कारण कर्म के आधार पर बताया जाता है। कर्म के कारण भी इस समस्या के सुलझने में कठिनाई आती है। यदि हम यह मान बैठते हैं कि कर्म में जो है वह वैसा ही घटित होता है, बदलता नहीं, तब तो नैतिकता, अनैतिकता और शिक्षा के साथ नैतिकता का संबंध आदि बातें व्यर्थ हो जाती हैं। किन्तु कर्मवाद का ध्रुव सिद्धांत है कि कर्म को भी बदला जा सकता है। कर्म ध्रुव नहीं होते, परिवर्तनशील होते हैं। इनमें परिवर्तन का अवकाश है।

कर्म सूक्ष्म हैं। वे अभिव्यक्त होते हैं स्थूल शरीर में। मनुष्य के मस्तिष्क की संरचना इतनी जटिल और सूक्ष्म है कि हजारों वैज्ञानिकों ने उसे समझने का प्रयत्न किया है, पर अभी तक जो ज्ञात हुआ है वह थाड़ा है, अज्ञात अधिक है। कर्मशरीर सूक्ष्म है। उसका संवादी है स्थूल शरीर। कर्मशरीर के संस्कार स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होते हैं। योग के क्षेत्र में इस बात पर विचार किया गया कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का संगम-बिन्दु कहां है, जहां भीतर के प्रकंपन आकर उसको प्रभावित करते हैं। वह है हमारा भाव। भाव भीतर से आता है और स्थूल शरीर को प्रभावित करता है, भावित करता है। जो संगम-बिंदु खोजे गए उनमें एक है नाभि, जिसे योग की भाषा में मणिपूर चक्र और प्रेक्षाध्यान की भाषा में तैजसकेन्द्र कहा जाता है। दूसरा संगम-बिन्दु है विशुद्धि केन्द्र, जो थाइरायड ग्लैण्ड का केन्द्र है और तीसरा है मस्तिष्क का एक भाग, जो हाइपोथेलेमस कहलाता है। ये तीन, संगम-बिन्दु हैं जहां सूक्ष्म-जगत् स्थूल जगत् में प्रकट होता है।

शिक्षा के साथ संबंध जुड़ता है स्थूल जगत् का, हमारे स्थूल शरीर का। शारीरिक अनुशासन के बिना दूसरा अनुशासन आ नहीं

सकता और अनुशासनहीनता की समस्या का समाधान हो नहीं सकता। शारीरिक अनुशासन बहुत आवश्यक है। जीवन विज्ञान में उसके कुछ उपाय खोजे गए हैं। उनमें एक उपाय है आसन। आसन कोई नई खोज नहीं है, पुरानी बात है, किन्तु जीवन विज्ञान में उन आसनों का समावेश किया गया है, दूसरे शब्दों में वह शारीरिक अनुशासन स्वीकृत किया है जो मानसिक और भावात्मक अनुशासन में सहयोगी बनता है।

हमने शशांक आसन को बहुत महत्व दिया है। इसके द्वारा एड्रीनल ग्लेड या तैजसकेन्द्र पर अनुशासन किया जा सकता है। वासना कितनी ही प्रबल हो, उच्छृंखल हो, सिद्धासन के द्वारा उस पर नियंत्रण हो सकता है। यह निश्चित उपाय है काम-वासना पर विजय पाने का। इससे उत्तेजना की प्रबलता मिट जाती है और एक अनुशासित क्रम बन जाता है। मैं नहीं कहता कि उससे व्यक्ति वीतराग बन जाता है। पर यह निश्चित है कि उससे अतिरिक्तता समाप्त हो जाती है।

यह शारीरिक अनुशासन भावात्मक और मानसिक स्थिति का अनुसरण करता है। प्राचीन आचार्य ने गुजराती-राजस्थानी में एक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्होंने नाभि के पास होने वाली सारी वृत्तियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। क्रोध, लोभ, अहंकार आदि जहां पैदा होते हैं, उनका विवरण प्रस्तुत करते हुए वे बताते हैं कि ये सारी वृत्तियां नाभि के आसपास पैदा होती हैं। यदि हम नैतिकता की दृष्टि से सोचें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जब तक इन वृत्तियों पर अनुशासन नहीं होता तब तक हजार उपक्रम करने पर भी नैतिकता नहीं आ सकती।

आज की शिक्षा-प्रणाली में अनेक शारीरिक आसन कराए जाते हैं, व्यायाम कराया जाता है, जिससे कि विद्यार्थी का शरीर स्वस्थ रहे। यह भी शारीरिक अनुशासन का एक पक्ष है, पर भावात्मक परिवर्तन की दृष्टि से जो आसन अपेक्षित हैं उनका समावेश शिक्षा में होना चाहिए। ये आसन ग्रंथि-संतुलन और नाड़ी-संतुलन में सहयोगी बनते हैं।

शिक्षा और जीवन-मूल्य (१)

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में नैतिकता का बहुत मूल्य था और उसकी चर्चा भी उपलब्ध होती है। आज 'नैतिक शिक्षा' इस शब्द के स्थान पर 'मूल्यपरक शिक्षा'—यह शब्द प्रस्थापित हो गया है। इसकी आज बहुत चर्चा है। आज मूल्यों की अपेक्षा है। उसकी पूर्ति का साधन शिक्षा बने। जीवन विज्ञान की प्रणाली में सोलह मूल्यों का निर्धारण किया गया है। वे जीवन विज्ञान की शिक्षा के साथ जुड़े हुए हैं। हमने उन मूल्यों को अनेक स्तरों में बांटा है। मूल्य के ये स्तर बनते हैं—

१. सामाजिक मूल्य—कर्त्तव्यनिष्ठा, स्वावलंबन।

२. बौद्धिक-आध्यात्मिक मूल्य—सत्य, समन्वय, संप्रदाय-निरपेक्षता, मानवीय एकता।

३.मानसिक मूल्य—मानसिक संतुलन, धैर्य।

४. नैतिक मूल्य—प्रामाणिकता, करुणा, सह-अस्तित्व।

५. आध्यात्मिक मूल्य—अनासक्ति, सहिष्णुता, मृदुता, अभय, आत्मानुशासन।

पहले वर्ग के मूल्य बौद्धिक हैं। दूसरे वर्ग के चारों मूल्य शुद्ध रूप में बौद्धिक नहीं कहे जा सकते। वे बौद्धिक भी हैं और आध्यात्मिक भी हैं। सत्य की खोज करना बुद्धि का काम है। अध्यात्म का भी काम है सत्य की खोज करना। इसी प्रकार शेष तीन मूल्य भी बौद्धिक और आध्यात्मिक दोनों हैं।

इस प्रकार पांचों वर्ग के सोलह मूल्यों का विकास करना जीवन विज्ञान का ध्येय है। सामाजिक और नैतिक दृष्टि से मूल्य का बोध होना बहुत आवश्यक है, अन्यथा सामाजिक स्थिति लड़खड़ा जाती है। जिसको मूल्य-बोध नहीं होता, वह किसी चीज का मूल्यांकन नहीं कर सकता।

एक राजा अत्यन्त लोभी था। उसने एक क्रयाधिकारी की नियुक्ति की । वह ईमानदार था। वह वस्तु का उचित मूल्य देता और

उसका क्रय कर लेता। राजा सोचता कि मूल्य कम दिया जाए और वस्तु अधिक ली जाए। उसने उस अधिकारी को बदलना चाहा। एक दिन राजा ने देखा कि एक किसान धूप में श्रम कर रहा है। कड़ी धूप और कड़ा श्रम। राजा ने सोचा, क्यों नहीं इसे क्रयाधिकारी नियुक्त कर दिया जाए। राजा ने उसे नियुक्ति दे दी। वह कुछ भी नहीं जानता था। एक बार एक सौदागर पांच सौ घोड़े लेकर आया। राजा को घोड़ों का शौक था। वह सभी घोड़े खरीद लेना चाहता था। उसने सौदागर को क्रयाधिकारी के पास भेज दिया। क्रयाधिकारी ने सौदागर से कहा–'सभी पांच सौ घोड़ों का मूल्य है, पांच सेर चावल। ले जाओ।' सौदागर अवाक् रह गया।

ऐसा होता है, जिसको मूल्य-बोध नहीं होता उसके लिए पांच सौ घोड़ों की कीमत पांच सेर चावल से अधिक नहीं होती।

जो ध्यान का मूल्य नहीं जानता, वह उसका क्या मूल्य आंकेगा? वह यही कहेगा कि एक घंटा आंखें मूंदकर बैठ जाना ही ध्यान है।

मूल्य-बोध की चेतना को जगाना परम आवश्यक है। एक मूल्य से कभी समाज नहीं चलता। केवल सामाजिक मूल्यों की पूर्ति से समाज नहीं चलता। इसी प्रकार केवल शारीरिक, आर्थिक या बौद्धिक मूल्यों की पूर्ति से कभी समाज नहीं चलता और केवल आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर भी समाज नहीं चलता। समाज एक संगठित और समन्वित तत्त्व है। उसके लिए सभी मूल्यों की पूर्ति जरूरी है। आदमी एकांगी दृष्टि से कह देता है कि समाज अर्थ की पूर्ति से सुव्यवस्थित चल सकता है। सारा भार अर्थ पर डाल दिया जाता है। क्या अर्थ की पूर्ति करने वाले व्यक्ति में कला, संगीत और साहित्य के प्रति रुचि नहीं होती ? क्या उसमें अन्य आकांक्षा और कामना नहीं होती ? आदमी यंत्र नहीं है। उसको यन्त्र मान कर व्यवहार नहीं किया जा सकता । हमें उसके व्यवहार, संवेग और मौलिक मनोवृत्तियों के आधार पर उसके साथ व्यवहार करना होगा। वह किसी यन्त्र का पुर्जा नहीं है, ईंट-पत्थर नहीं है कि जहां चाहे वहां फिट कर दें। वह चेतनावान् प्राणी है, जिसकी अपनी रुचि है, आकांक्षा और कामना है। ऐसी स्थिति में एकांगी दृष्टि से नहीं सोचा

जा सकता। साम्यवादी प्रणाली में मूल्यों की उपेक्षा की गई। उसका परिणाम यह आया कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाया अनेक समस्याएं उभरीं। जिन लोगों ने प्रजातांत्रिक प्रणाली में भी आर्थिक मूल्यों को अतिरिक्त मूल्य दिया, वहां असंतोष और पागलपन बढ़ा। जब अर्थ या भोग का मूल्य अतिरिक्त होता है तब पागलपन बढ़ता है और एक प्रकार की ऊब पैदा होती है जिससे आदमी का संतुलन बिगड़ सकता है। जहां आध्यात्मिक मूल्यों को अतिरिक्त स्थान दिया जाता है वहां गरीबी बढ़ सकती है, परतंत्रता भी आ सकती है।

अध्यात्म में या भक्ति में रत रहने वाला सोच सकता है, यही सार है। कमाने की या खेती की जरूरत ही क्या है? वह दिन-रात भक्ति में लीन रहता है। कैसे चलेगा जीवन? वह परिवार का पोषण कैसे करेगा? जहां अतिक्रमण होता है वहां समस्याएं उत्पन्न होती हैं इसलिए यह आवश्यक है कि आदमी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बने जिसका, जिस स्तर पर, जितना मूल्य हो उसको उतना मूल्य दिया जाए। शरीर के स्तर पर जिसका मूल्य है उसकी तुलना शरीर के स्तर पर ही हो सकती है और अध्यात्म के स्तर पर जिसका मूल्य है, उसकी तुलना अध्यात्म के स्तर पर ही हो सकती है। दोनों में असमानता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। शरीर के स्तर का मूल्य है भोजन करना और अध्यात्म के स्तर का मूल्य है भक्ति करना। प्रश्न होता है कि भोजन का मूल्य अधिक है या भक्ति का ? इस विषय में एकांगी दृष्टि से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसमें अधिक या कम की तुलना नहीं की जा सकती। शारीरिक स्तर पर भोजन का और आध्यात्मिक स्तर पर भक्ति का मूल्य अधिक है।

बहुत बार प्रश्न आता है कि गृहस्थी का स्थान ऊंचा है या संन्यास का ? इसकी तुलना करना कठिन है। दो स्तरों के बीच समानता की बात नहीं सोची जा सकती। गृहस्थ के स्तर में और संन्यासी के स्तर में बहुत बड़ा अन्तर है। सामाजिक स्तर पर गृहस्थ का और अध्यात्म के स्तर पर संन्यासी का मूल्य ज्यादा है। किन्तु दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। दोनों स्तर अलग हैं। जब तक

यह स्तरीय बोध स्पष्ट नहीं होता, तब तक उलझनें पैदा होती रहती हैं। प्राचीन साहित्य में कहा गया है–**'गृहस्थाश्रमसमो धर्मो न भूतो न भविष्यति'**–गृहस्थाश्रम के समान न तो कोई धर्म हुआ है और न होगा। इसी प्रकार संन्यास का भी अपना स्थान है। उसके समान कोई आश्रम नहीं है। स्तरों की तुलना नहीं हो सकती। हम उनका मूल्यांकन भिन्न भिन्न दृष्टि से ही कर सकते हैं।

धर्म और सम्प्रदाय दोनों का अपना मूल्य है। धर्म है अध्यात्मिक चेतना का जागरण और संप्रदाय है चेतना के जागरण में सहयोग देने वाला संस्थान। धर्म का लक्ष्य है बंधन-मुक्त होना। आज आक्रोश धर्म के प्रति नहीं, धर्म के नाम पर चलने वाली सांप्रदायिकता के प्रति है। संस्थागत धर्म से विरोध हो सकता है, पर चारित्रिक धर्म से विरोध नहीं हो सकता।

कोई पूछता है कि घड़ा बना, इसमें ज्यादा योग मिट्टी का है या कुम्हार का? ज्यादा कम नहीं बताया जा सकता। दोनों का अलग अलग मूल्य है। मिट्टी मूल कारण है और कुम्हार निमित्त कारण है। घड़ा दोनों कारणों से बनता है। दोनों का अपना अपना स्तरीय मूल्य है।

शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यों की चर्चा बहुत आवश्यक है। इसके दो पहलू हैं–मूल्य की सीमा का बोध और मूल्य-प्राप्ति के साधनों का बोध।

प्रश्न है कि विद्यार्थी को ये मूल्य कैसे प्राप्त कराए जाएं। जीवन विज्ञान की प्रणाली में मूल्य-प्राप्ति के साधनों के प्रयोग निर्धारित किए गए हैं। उनका अभ्यास करने से मूल्यात्मक चेतना विकसित होती है।

मूल्य-बोध में दार्शनिक दृष्टि बहुत आवश्यक है और मूल्य-प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक प्रयोग जरूरी हैं। मूल्यांकन में बहुत अन्तर होता है, इसलिए दार्शनिक दृष्टि बहुत स्पष्ट होनी चाहिए। मूल्यांकन समान नहीं होता। जब तक सर्वांगीण जीवन-दर्शन के द्वारा मूल्यपरक दृष्टि स्पष्ट नहीं होती तब तक मानसिक उलझनें मिटती नहीं।

शिक्षा में मूल्य-बोध जितना स्पष्ट होगा उतनी ही स्थिति

स्पष्ट होगी और सामाजिक मूल्यों का सामंजस्य होगा।

मानसिक संतुलन और धैर्य—ये दो मानसिक मूल्य हैं। तनाव के कारण अनेक उपद्रव होते हैं। तनाव में मानसिक संतुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है। संतुलन के अभाव में समस्याएं पैदा होती हैं। पारिवारिक कलह, सामाजिक संघर्ष आदि असंतुलन की देन हैं।

इस स्थिति में विद्यार्थी को मानसिक असंतुलन से होने वाली समस्याएं और परिणाम तथा मानसिक संतुलन से होने वाले लाभ का पूरा बोध कराना आवश्यक है। केवल बोध ही नहीं, उसे प्रयोगात्मक रूप से यह भी सिखाना जरूरी है कि मानसिक संतुलन कैसे प्राप्त किया जा सकता है। बोध और प्रयोग—दोनों आवश्यक हैं। इससे समाधान मिल सकता है।

मनोविज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में मानसिक संतुलन की चर्चाएं हुई। वहां इसकी पूरी जानकारी प्राप्त है, पर प्रयोग वहां उपलब्ध नहीं हैं, इस दृष्टि से वह जानकारी अधूरी रह जाती है। जानकारी का अगला चरण है प्रयोग। दोनों पक्ष संयुक्त हैं। मानसिक संतुलन उपायों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और वातावरण को अच्छा बनाया जा सकता है। कोई व्यक्ति अपने मानसिक स्वास्थ्य को नहीं बिगाड़ता है तो यह बहुत बड़ी बात है। मानसिक अस्वास्थ्य या असंतुलन के कारण ही सारी समस्याएं उभरती हैं।

आज की शिक्षा में ज्ञानात्मक पक्ष उजागर है, किन्तु प्रयोगात्मक पक्ष कमजोर है या है ही नहीं । इसलिए शिक्षा अधूरी है, लंगड़ी है। यदि उसे पूरी बनाना है तो दोनों पक्षों—बौद्धिक और प्रयोगात्मक की संयोजना करनी होगी। यही जीवन विज्ञान की प्रणाली है।

शिक्षा और जीवन-मूल्य (२)

पानी में गंदगी हो तो उसे फिल्टर कर पीया जा सकता है। किन्तु पानी साफ नहीं है, इसलिए पानी पीना बंद नहीं किया जा सकता। यदि कोई पानी पीना छोड़ दे तो उसे तड़फ-तड़फ कर प्राण देना पड़ेगा।

आज चिन्तन की जटिलता चल रही है इसलिए शिक्षा के साथ धर्म की बात को नहीं जोड़ा जा रहा है। धर्म के बिना चरित्र की कोई संभावना नहीं हो सकती। जब चरित्र नहीं है तो व्यक्तित्व का समग्र विकास नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर ने व्यक्तियों को चार भागों में बांटा है–

१. ज्ञान-संपन्न किन्तु शील-संपन्न नहीं।

२. शील-संपन्न किंतु ज्ञान-संपन्न नहीं।

३. ज्ञान-सम्पन्न भी, शील-सम्पन्न भी।

४. न ज्ञान-सम्पन्न और न शील-सम्पन्न।

इनमें तीसरा विकल्प समग्र व्यक्तित्व का बोधक है। शिक्षा का उद्देश्य है–ऐसी चेतना का विकास जिससे ज्ञान और आचार– दोनों को बल मिले। बौद्धिक पाठ्यक्रम से ज्ञान बढ़ाया जा सकता है, अनेक विद्या-शाखाओं का अध्ययन कर ज्ञान को व्यापक बनाया जा सकता है, किन्तु उससे चरित्र का विकास नहीं हो सकता। चरित्र का विकास करना बुद्धि का काम नहीं है। यह दूसरी शक्ति का काम है। बुद्धि भी मस्तिष्क का कार्य है। चरित्र का विकास करना भी मस्तिष्क का कार्य है। पर इनके लिए सेन्टर भिन्न-भिन्न हैं। बुद्धि का सेन्टर है–रीजनिंग माइन्ड और चरित्र-विकास का सेन्टर है–इमोशनल माइन्ड। इमोशनल माइन्ड में संवेगों पर नियन्त्रण करने के सेन्टर हैं। चरित्र-विकास के लिए नियन्त्रण की क्षमता को बढ़ाना आवश्यक है।

मूल्य दो प्रकार के होते हैं–साध्यमूल्य और साधनमूल्य। नियन्त्रण साधन-मूल्य है। इसके द्वारा साध्य की दिशा में, समग्र व्यक्तित्व के विकास की दिशा में प्रगति की जा सकती है।

प्रश्न होता है कि धर्म क्या है? सम्प्रदायों के आधार पर धर्म की अनेक परिभाषाएं की गई हैं। सम्प्रदाय-निरपेक्ष भाषा में धर्म की परिभाषा यह हो सकती है—अपने संवेगों पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास ही धर्म है।

संत डायोगनिज के पास एक व्यक्ति ने आकर पूछा—मैं धर्म की परिभाषा जानना चाहता हूं। डायोगनिज ने कहा—अभी तो मैं व्यस्त हूं। तुम अपना ठिकाना बता दो, मैं धर्म की परिभाषा लिखकर भेज दूंगा। उसने अपना पता लिखा दिया। संत ने पूछा—क्या तुम वहां सदा रहते हो? उसने कहा—यदा-कदा बाहर चला जाता हूं।

संत ने कहा—तुम अपना स्थायी पता बताओ। उसने कहा—अमुक दिनों में वहां रहता हूं, अमुक दिनों में वहां रहता हूं। संत ने कहा—स्थायी पता बताओ। वह व्यक्ति 'स्थायी पता' 'स्थायी पता', सुनकर तमतमा उठा। वह क्रोध में अपनी ही छाती पर आनन्द केन्द्र पर, मुक्का मारते हुए बोला—यहां रहता हूं। यह है मेरा स्थायी पता। संत ने कहा—यहां रहना ही धर्म है। यही है धर्म की परिभाषा। यहां से बाहर जाना अधर्म है।

जीवन विज्ञान के आधार पर धर्म की परिभाषा है—संवेगों और आवेगों पर नियन्त्रण करने की शक्ति का विकास करना।

यह धर्म शिक्षा के साथ जुड़ता है तो किसी भी धर्म-सम्प्रदाय को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसमें न साम्प्रदायिकता का प्रश्न है न जातीयता और राष्ट्रीयता का प्रश्न है। यह निर्विशेषण धर्म है। इसका समावेश शिक्षा में होना अनिवार्य है। यदि यह शिक्षा के साथ जुड़ता है तो शिक्षा का आज जो लंगड़ापन है वह मिट जाता है। अन्यथा ज्ञान बढ़ेगा, पर चरित्र नहीं बढ़ सकेगा।

केवल पढ़ा-लिखा होने मात्र से पारिवारिक सामंजस्य नहीं हो जाता। पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी बहुत झगड़ालू होता है। जब तक परिवार के सदस्य में ज्ञान के साथ आचार की बात विकसित नहीं होती तब तक वह परिवार के लिए खतरा बना रहता है। उसका पारिवारिक जीवन विवादग्रस्त बन जाता है। वह सह-अस्तित्व की बात भूल जाता है। जो व्यक्ति परिवार में सामंजस्यपूर्ण स्थिति

स्थापित कर सकता है, वह कम पढ़ा-लिखा होने पर भी अधिक उपयोगी होता है। जो ऐसा नहीं कर सकता, वह कितना ही पढ़-लिख जाए उसका ज्ञान मूल्यहीन है। एक आदमी दूसरे आदमी से जुड़ता है, उसमें उसका व्यवहार मुख्य कारण बनता है, ज्ञान नहीं। यदि उसका व्यवहार मृदु और सौहार्दपूर्ण है तो वह सबका प्रिय बन जाता है। लोग उसके व्यवहार की प्रशंसा करेंगे, उसके ज्ञान को नहीं पूछेंगे।

आचरणमुक्त ज्ञान अत्यन्त खतरनाक होता है। इस खतरे को आज का मनुष्य भोग रहा है, फिर भी उसी बुद्धि और ज्ञान की पूजा की जा रही है, उसी को बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है।

हमारा प्रारंभ अधिकार पक्ष से होता है। बच्चा अपने अस्तित्व को तृप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। शिक्षा का काम है अधिकार पक्ष को सीमित कर दायित्व पक्ष को विकसित करना। जब दायित्व पक्ष विकसित नहीं होता और अधिकार पक्ष विकसित रहता है तो वह खतरनाक सिद्ध होता है। आज जो आर्थिक और सत्तागत समस्याएं हैं वे सारी अधिकार पक्ष के साथ जुड़ी हुई हैं। अधिकार पक्ष की मनोवृत्ति बचपन से ही शुरू हो जाती है और वह क्रमशः बढ़ती जाती है। जब सामाजिक और पारिवारिक दायित्व की चेतना नहीं जागती तब निरंकुश अधिकार पक्ष सारे चरित्र को ले डूबता है। शिक्षा का काम है—दायित्व की चेतना को जगाना। उस चेतना का जागरण धर्म या अध्यात्म की शिक्षा के बिना संभव नहीं है। इसके बिना वातावरण या परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करने की स्थिति नहीं बनती।

अनेकान्त की पहली शर्त है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के साथ सामंजस्य स्थापित करना। आज यह अध्ययन किया जा रहा है कि स्वभाव और चरित्र में क्या संबंध है? हमारे स्वभाव और चरित्र का संबंध वस्तु के साथ नहीं, क्षेत्र के साथ और विभिन्न अवस्थाओं के साथ है। वातावरण के साथ सामंजस्यपूर्ण स्थिति चारित्रिक विशेषता प्रदान करती है। जो व्यक्ति पढ़ा-लिखा होकर भी परिस्थिति और वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकता, वह चरित्रवान्

नहीं हो सकता। सामंजस्य हमारे जीवन का मूल्य है। यह सह-अस्तित्व का मूल मंत्र है। इस स्थिति के निर्माण में दर्शन और धर्म का पूरा सहयोग रहता है। जीवन विज्ञान के क्षेत्र में दर्शन का अर्थ है–सर्वांगीण जीवन-दर्शन, वह जीवन जो एकपक्षीय न हो।

प्रश्न यह है कि सर्वांगीण जीवन-दर्शन के प्रति हमारी रुचि कैसे बढ़े और नियंत्रण की शक्ति का विकास कैसे हो ? इस प्रश्न के समाधान में हमें विनम्रता के मूल्य को विकसित करना होगा। प्राचीन सूत्र है–**'विद्या ददाति विनयम्'**–विद्या विनय उपलब्ध कराती है। इसको हम इस प्रकार बदल दें–**'विनयो ददाति विद्याम्'**–विनय विद्या उपलब्ध कराता है। दोनों का संबंध है। एक चक्र बन जाता है। विद्या विनय देती है। विनय विद्या देता है। यह भी रूढ़ जैसा बन गया है। हम इस अर्थ को कम पकड़ पा रहे हैं कि विद्या विनय कैसे देती है? विनय विद्या कैसे देता है ?

विद्या ग्रहणशील व्यक्ति को प्राप्त होती है। जो ग्रहणशील नहीं होता वह विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता। ग्रहणशील वह होता है जो विनम्र होता है। वह विद्या को पकड़ पाता है। यह हीनभावना या लाचारी नहीं है। आज शिक्षा के क्षेत्र में विनय को हीनभावना माना जाता है।

विनय की परिभाषा है–ग्रहणशीलता। यहां कोई अवरोध नहीं, रुकावट नहीं। द्वार सदा खुला रहता है। शिक्षा के साथ यह बात जुड़नी चाहिए। किंतु यह भी धार्मिक चेतना के बिना नहीं हो सकती। जब आवेगों पर नियन्त्रण पाने में कठिनाई होती है तब समग्र जीवन-दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं होती। जिस दर्शन की प्रणाली में सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मूल्य तथा मानसिक और आध्यात्मिक मूल्यों की संभावना का समावेश नहीं होता, वह एकांगी है। उससे बहुत भला नहीं होता। सर्वांगीण दर्शन वह होता है जिसमें विभिन्न स्तरीय मूल्यों का सामंजस्य होता है। यह शिक्षा का सर्वांगीण दर्शन बनता है।

जीवन विज्ञान : व्यापक संदर्भ में

व्यवस्था को बदलना ही पर्याप्त नहीं

एक युवती शीशे के सामने जाकर खड़ी हुई। उसका मुंह मुंहासों से भरा हुआ था। वह उसे बहुत भद्दा लग रहा था। उसने शीशे में देखा। मुंह क्रोध से लाल हो गया। उसने शीशे को साफ किया, फिर भी मुंहासों में कोई फर्क नहीं पड़ा। मुंह को साफ किया, शीशे में देखा, पर मुंह कुरूप ही नजर आया। वह सुन्दर नहीं बना। आवेश बढ़ा और उसने शीशे के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। पर मुंह साफ नहीं हुआ मुंहासे नहीं मिटे।

शिक्षा बिब है और समाज उसका प्रतिबिम्ब। शिक्षा का तंत्र यदि मुंहासों से भरा है तो समाज वैसा ही बनेगा, समाज को स्वच्छ नहीं बनाया जा सकता।

आज शिक्षा के बारे में सबसे ज्यादा उपेक्षा बरती जा रही है, जबकि सारे समाज का निर्माण शिक्षा से होता है। इस स्थिति में यह सोचना अत्यन्त आवश्यक है कि कितना योग्य होना चाहिए शिक्षक? कितनी चाहिए शिक्षा की व्यवस्था और कितना चाहिए शिक्षक और शिक्षा का सम्मान? किन्तु सारा विपरीत ही चल रहा है। आज गरीबी की समस्या है, जातिवाद और छुआछूत की समस्या है, साम्प्रदायिकता की समस्या है न जाने कितनी और समस्याएं हैं। इन सबका कारण यही है कि आज शिक्षा पद्धति सही नहीं है। ये सब समस्याएं कैसे मिटेंगी ? भगवान् स्वयं आ जाएं और प्रधानमंत्री के पद पर बैठ जाएं, किन्तु शिक्षा को बदले बिना समाज को नहीं बदला जा सकता। समाज को बदलने का एकमात्र साधन है शिक्षा-तंत्र। वहां विद्यार्थियों में बीज-वपन होता है। शिक्षा बदलेगी तो समाज-व्यवस्था में भी परिवर्तन आएगा। समाज-व्यवस्था को शिक्षा में देखा जा सकता है। जब रूस में समाज-व्यवस्था बदली तब सबसे अधिक ध्यान शिक्षा पर दिया। जब तक शिक्षक को सांचे में नहीं ढाला जाएगा, तब तक शिक्षा नहीं चलेगी। यह तब चलेगी जब विद्यार्थियों को यह समझ में आ जाए कि शिक्षा की प्रणाली हमारे लिए अच्छी है। जब तक बीज का

वपन नहीं होता है तब तक बच्चे के संस्कार अंकुरित नहीं होते। जहां से बीज का वपन शुरू होता है, वहां से बीज का संस्कार अंकुरित होने लगता है। आज उस स्थान की पूर्ण उपेक्षा है तो फिर समाज के परिवर्तन की बात ही प्राप्त नहीं होती। समाज-परिवर्तन के लिए दो बातें जरूरी हैं—संवेग पर नियन्त्रण और विचारों पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास।

विद्यार्थी समाज में आता है, सामाजिक जीवन जीता है। वह आज समाज को अच्छा नहीं बना रहा है। इसका कारण है कि उसमें नियन्त्रण की शक्ति नहीं है। यह शाश्वत सत्य है कि जब तक व्यक्ति में संवेगों, विचारों और वासनाओं पर नियन्त्रण करने की क्षमता नहीं होती, तब तक अच्छा समाज नहीं बन सकता। वह अपराधियों का समाज होगा, स्वच्छ समाज कभी नहीं होगा।

महामात्य कौटिल्य ने लिखा है—शासक को इन्द्रियजयी होना चाहिए। उसने यह बात साधना या वीतराग बनने के लिए नहीं कही, किन्तु इसलिए कही कि यदि शासक इन्द्रियजयी नहीं होता है तो जनता उत्पीड़ित होती है। यदि वह इन्द्रियजयी है तो जनता सुख-सम्पन्न होती है। शासक-वर्ग की इन्द्रिय-उच्छृंखलता के कारण ही अनेक समस्याएं उभरी हैं। जिस समाज में इन्द्रिय-संयम की बात नहीं होती, उस समाज में चोरियां, डकैतियां, बलात्कार और अपराध बढ़ते जाते हैं। शिक्षा का काम है बौद्धिक विकास के साथ साथ विद्यार्थी में विचारों पर, संवेग और संवेदनाओं पर नियन्त्रण की क्षमता को बढ़ाना, उस शक्ति को जागृत करना। आज की शिक्षा से पहला काम बौद्धिक विकास तो पर्याप्त मात्रा में हो रहा है। दूसरा काम नहीं हो रहा है। इसलिए आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया, जिससे कि व्यक्ति अच्छा नागरिक बन सके, अच्छे समाज का निर्माण हो। उसके लिए आचार-संहिता तैयार हो गई। पर उस आचार-संहिता का क्रियान्वयन कैसे हो, इस चिन्तन के उपक्रम से प्रेक्षाध्यान का विकास हुआ। इसका क्रियान्वयन शिक्षा-जगत् के लिए वरदान है। शिक्षा जगत् में यह बहुत ध्यान देने योग्य बात है कि शिक्षा का आधार बायोलोजिकल एस्पेक्ट होना चाहिए। बायोलोजिकल

एस्पेक्ट से जब व्यक्तित्व का निर्माण होता है तब बौद्धिक विकास के साथ-साथ चरित्र का भी निर्माण होता है।

दो पक्ष हैं—बौद्धिक विकास और संवेग नियन्त्रण। बौद्धिक विकास तो अपनी चरम सीमा पर पहुंचने को तैयार है, किन्तु संवेग-नियन्त्रण अभी बाल्य अवस्था में ही है। आज के विश्वविद्यालयों में विद्या की जो शाखाएं हैं वे अनगिन हैं, किन्तु संवेग-नियन्त्रण की विद्या को भाग्य-भरोसे छोड़ दिया गया है। यदि हम प्रतिशत में बांटे तो पचास प्रतिशत मूल्य है बौद्धिक विकास का और पचास प्रतिशत मूल्य है संवेग-नियन्त्रण का। बौद्धिक विकास ने अपना पूरा मूल्य पा लिया है। यदि भावनात्मक विकास सध जाता है तो अच्छे समाज के निर्माण में समय नहीं लगता। जीवन-विज्ञान-पद्धति की शिक्षा के द्वारा जिस समाज का निर्माण होगा, उसमें न उत्पीड़न होगा, न जातिवाद की क्रूरता होगी, न छुआछूत होगा और न शोषण की समस्याएं होंगी।

स्वच्छ समाज की परिकल्पना के लिए अणुव्रत आन्दोलन ने जो प्रारूप प्रदान किया है, वह जीवन-विज्ञान के सन्दर्भ में एक विनम्र प्रयत्न है, नया दृष्टिकोण है। जिन लोगों ने केवल समाज व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न किया, जिनमें रूस और चीन प्रमुख हैं, उनका अनुभव है कि व्यवस्था के बदल जाने पर भी आदमी नहीं बदलता।

वहां समाज-व्यवस्था बदली पर आदमी का हृदय नहीं बदला, इसीलिए वहां अनेक प्रकार के आर्थिक घोटाले होते हैं, जघन्य अपराध होते हैं। तब तक हृदय नहीं बदलता, जब तक संवेग-परिष्कार की भावना नहीं उमड़ती हैं। संवेग-परिष्कार के बिना बुराइयों से नहीं बचा जा सकता।

शिक्षा के सार्वभौम और अन्तर्राष्ट्रीय तथ्यों के आधार पर एक परिकल्पना की गई, जिसमें दोनों पक्षों—बौद्धिक और भावनात्मक का संतुलित विकास हो। पूरे चिन्तन और मनन के पश्चात् यह परिकल्पना सामने रखी गई है और इसके प्रयोग का श्रेय पहले पहल राजस्थान को मिला है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री मजूमदार ने कहा—एटीट्यूड को बदलने की प्रक्रिया अभी हमारे पास नहीं है। इसके द्वारा समाज का

कल्याण हो सकता है। जड़ की बात को पकड़ना बहुत जरूरी है। प्रायः लोग पत्तियों की कांट-छांट कर संतोष कर लेते हैं। पतझड़ आता है, पत्तियां झड़ जाती हैं। बसंत आता है। पतझड़ और बसंत—यह कोई बड़ा परिवर्तन नहीं है।

यदि दृश्य को, समाज को, स्वच्छ और अच्छा बनाना है, व्यसन-मुक्त और अपराध मुक्त बनाना है तो शिक्षा के साथ संवेग-परिष्कार की बात को जोड़ना होगा। इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं है। आज का विद्यार्थी पचीस वर्ष तक पूरी उच्छृंखलता में पनपता है। जब वह समाज में आता है तो उसकी अपराधी मनोवृत्ति से समाज के लोग चिन्तित हो जाते हैं। केवल बौद्धिक विकास के कारण वे विद्यार्थी शस्त्र-से बन जाते हैं। धार तेज है। जब धार तेज होगी तो वह काटेगी ही। जब शस्त्र तेज होगा तो वह अपना काम करेगा ही। एक बात है, शस्त्र बने, धार तेज हो, कोई चिन्ता नहीं है, पर उस पर खोल होना चाहिए। खड्ग हो और म्यान न हो तो वह स्वयं को ही काट देता है। बौद्धिक विकास बहुत जरूरी है, पर वह काटे नहीं। नैतिकता का उस पर खोल रहे, नियन्त्रण की क्षमता बढ़े। इस संतुलन की हम कल्पना करें। जीवन-विज्ञान से शिक्षा कां क्षेत्र तेजस्वी बनेगा और नए व्यक्तियों का निर्माण होगा।

सा विद्या या विमुक्तये

हमें उस सचाई को खोजना है जिससे व्यक्ति और समाज का दुःख कम हो सके। पुरानी भाषा में इसे कहा—बंधन टूटे। भाषा का अन्तर हो सकता है, तात्पर्य दोनों का एक ही है। दुःख बंधन है, बंधन दुःख है।

शिक्षाजगत् का प्रसिद्ध सूत्र है—**'सा विद्या या विमुक्तये'**— विद्या वही है जिससे मुक्ति सधे। मुक्ति के अर्थ को हमने एक सीमा में बांध दिया। हमने उसे मोक्ष के अर्थ में देखा। मोक्ष की बात बहुत आगे की है, मरने के बाद की है। जिसको जीते जी मुक्ति नहीं मिलती, उसको मरने के बाद भी मुक्ति नहीं मिल सकती। जब वर्तमान क्षण में मुक्ति मिलती है तो वह आगे भी मिल सकती है। जो वर्तमान क्षण में बंधा रहता है, उसे आगे मुक्ति मिलेगी, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मुक्ति का एक व्यापक संदर्भ है। हमें उसे समझना है। उसे समझ लेने पर हमारा दृष्टिकोण बहुत कार्यकर होगा।

शिक्षा के क्षेत्र में मुक्ति का पहला अर्थ है—अज्ञान से मुक्त होना। अज्ञान बहुत बड़ा बंधन है। अज्ञान के कारण ही व्यक्ति अनेक अनर्थ करता है। इसे आवरण माना गया है। आवरण बंधन है। शिक्षा का पहला काम है—इस बंधन से मुक्ति दिलाना, अज्ञान से मुक्ति करना। इस परिप्रेक्ष्य में हम कहेंगे—**'सा विद्या या विमुक्तये'**—शिक्षा वह है जो अज्ञान से मुक्त करती है।

मुक्ति का दूसरा संदर्भ होगा—संवेगों के अतिरेक से मुक्ति। आदमी में संवेग का अतिरेक होता है और वह आदमी को पकड़ लेता है, आसानी से नहीं छूटता। जब तक व्यक्ति वीतराग अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वह संवेगों से पूर्णरूपेण छुटकारा नहीं पा सकता। संवेगों के अतिरेक के कारण आदमी न परिवार में, न समाज में और न गांव में फिट हो सकता है। वह दूसरों के लिए सिरदर्द बन जाता है। ऐसी स्थिति में यह स्वयं प्राप्त होता है कि शिक्षा उसे संवेग के अतिरेक से मुक्ति दिलाए। इसका अर्थ है कि

मनुष्य में संवेगों पर नियंत्रण करने की क्षमता बढ़े जिससे कि संवेगों की प्रचुरता न रहे। वे एक सीमा में आ जायें।

मुक्ति का तीसरा संदर्भ होगा–संवेदों के अतिरेक से मुक्ति। इंद्रियों की जो संवेदनाएं है, उनका अतिरेक भी समस्याएं पैदा करता है और समाज में अनेक उलझनें उत्पन्न करता है। शिक्षा का यह महत्वपूर्ण कार्य है कि वह संवेदनाओं के अतिरेक से व्यक्ति को मुक्ति दिलाए।

मुक्ति का चौथा संदर्भ होगा–धारणा और संस्कार से मुक्ति। व्यक्ति धारणाओं और अर्जित संस्कारों के कारण दुःख पाता है। शिक्षा का कार्य है कि वह इनसे मुक्ति दिलाए।

मुक्ति का पांचवां संदर्भ होगा–निषेधात्मक भावों से मुक्ति। व्यक्ति का नेगेटिव एटिट्यूड समस्या पैदा करता है। इससे मुक्त होना भी बहुत आवश्यक है।

इन पांच संदर्भों में मुक्ति को देखने पर **'सा विद्या या विमुक्तये'** का सूत्र बहुत स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में विद्या वही होती है जो मुक्ति के लिए होती है, जिससे मुक्ति सधती है। हम कसौटी करें और देखें कि क्या आज की शिक्षा से ये पांचों संदर्भ सधते हैं ? क्या वास्तव में अज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है ? यदि अज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है तो वह शिक्षा परिपूर्ण है और यदि नहीं मिलती है तो उसमें कुछ जोड़ना शेष रह जाता है। जीवन-विज्ञान की पूरी कल्पना इन संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में की गई है।

आज शिक्षा के द्वारा अज्ञान की मुक्ति अवश्य हो रही है। आज ज्ञान बढ़ रहा है,बौद्धिक विकास हो रहा है। किन्तु संवेग के अतिरेक से मुक्ति आदि की बातें शिक्षा से जुड़ी हुई नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है। लोगों की धारणा यही है कि यह बात धर्म के क्षेत्र की है, शिक्षा के क्षेत्र की नहीं है। यह धारणा अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि धर्म का मूल अर्थ ही है संवेगों पर नियंत्रण पाना। यह धर्म के मंच का काम होना चाहिए। शिक्षा-क्षेत्र का यह कार्य क्यों होना चाहिए? ऐसा सोचा जा सकता है। पर वर्तमान परिस्थिति में धर्म की भी समस्या है और वह यह है कि धर्म का स्थान मुख्यतः सम्प्रदाय ने ले लिया है।

इसलिए साम्प्रदायिक वातावरण में धर्म के द्वारा संवेग-नियंत्रण की अपेक्षा रखना निराशा की बात है।

एक स्थिति यह है कि आज का विद्यार्थी जिस परिवार में जन्म लेता है, जहां पलता है, उस परिवार में जो धार्मिक संस्कार है, जिस सम्प्रदाय की मान्यता है, उसके सम्पर्क में भी वह बहुत कम रह पाता है। दिन में वह इतना व्यस्त रहता है कि उठते-बैठते ही वह विद्यालय जाने की बात सोचता है और वहां से लौटने पर गृह-कार्य (होम वर्क) में निमग्न हो जाता है। कभी कभी ऐसा होता है कि एक घर में रहते हुए भी पिता-पुत्र नहीं मिल पाते। आज सामाजिक वातावरण और स्थितियां भी ऐसी बन गई हैं। एक व्यक्ति से मैंने पूछा—क्या तुम कभी अपनी संतान को शिक्षा देते हो? वह बोला—आचार्यश्री ! मैं सुबह देरी से उठता हूं, तब तक लड़का स्कूल चला जाता है। जब वह स्कूल से लौटकर आता है तब तक मैं ऑफिस में रहता हूं। जब मैं देरी से घर लौटता हूं, तब तक वह सो जाता है और सुबह जल्दी उठकर चला जाता है। आमने-सामने होने का कभी अवसर ही नहीं आता। केवल रविवार को मिलते हैं, कुछ बात कर लेते हैं, और समाप्त।

ऐसे वातावरण में धर्म के द्वारा बच्चे को कुछ मिल सकेगा, ऐसी संभावना नहीं की जा सकती। इस स्थिति में बालक का निर्माण शिक्षा से जुड़ जाता है, अतः हमें सोचना होगा कि शिक्षा के साथ कुछ ऐसे तत्व और जुड़ने चाहिए, जिनसे बच्चे के संस्कारों का निर्माण हो, वह अपने संवेगों और संवेदनाओं का परिष्कार भी कर सके। आज दोनों कामों को एक ही मंच से करना होगा। बच्चों का निर्माण भी हो और संस्कार-परिष्कार भी हो। शिक्षा के क्षेत्र से ये दोनों काम हो सकते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा जगत् का दायित्व दोहरा हो जाता है। यह बहुत बड़ा दायित्व है। 'फेरो' ने बहुत बड़ी बात कही है—'वर्तमान विद्यालय व्यक्ति को साक्षर बनाते हैं, शिक्षित नहीं बनाते।' साक्षर बनाना एक बात है और उसकी तुलना कम्प्यूटर या टेपरिकार्डर से की जा सकती है। हमने भ्रमवश स्मृति और बुद्धि को एक मान लिया है। स्मृति और बुद्धि एक नहीं है। कम्प्यूटर में इतनी तीव्र स्मृतियां

नियोजित हैं कि आदमी उसके सामने कुछ भी नहीं है, बहुत छोटा है। आज का युग कम्प्यूटर का होता जा रहा है। सूचनाओं, ज्ञान और आंकड़ों का संबंध स्मृति से है। टेपरिकार्डर सारी बात दुहरा देता है।

शिक्षा का काम केवल स्मृति को बढ़ाना ही नहीं है, केवल आंकड़ों से मस्तिष्क को भरना ही नहीं है, साक्षरता ला देना ही उसका काम नहीं है, उसका काम भावों का परिष्कार करना भी है। इसी से व्यक्ति में स्वतंत्र निर्णय, स्वतंत्र चिन्तन और दायित्व–बोध की क्षमता विकसित होती है। यह तभी संभव है कि शिक्षा केवल साक्षरताभिमुख न रहे। उसमें कुछ और भी जुड़े।

संवेग और संवेद–ये दो महत्वपूर्ण तत्व हैं, क्योंकि वर्तमान में जो सामयिक समस्याएं हैं वे सारी इन दो तत्वों के साथ जुड़ी हुई हैं। जो शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी को समाज की वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में कुछ कार्य करने की प्रेरणा नहीं देती, वह शिक्षा प्रणाली बहुत काम की नही होती। फेरो ने ठीक ही लिखा है–'साक्षर व्यक्ति केवल सरकार का ईंधन बनता है।' आज की शिक्षा ईंधन मात्र तैयार कर रही है, ज्योति तैयार नहीं करती। ज्योति और ईंधन एक बात नहीं है। ईंधन तैयार करना बहुत बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है ज्योति प्रज्वलित करना।

आज समूचे विश्व में बहुत क्रांतदृष्टि से सोचा जा रहा है कि शिक्षा में क्या परिवर्तन होना चाहिए। जिस शिक्षा से समाज में, व्यवस्थाओं में परिवर्तन नहीं आता संकट कम नहीं होता, समाज का उत्पीड़न कम नहीं होता, उस शिक्षा को भारतीय दर्शन में अशिक्षा और ज्ञान को अज्ञान माना है। भारत की प्रत्येक धर्म-परम्परा में यह स्वर समान रूप से मिलेगा कि जिससे संयम की शक्ति और त्याग की शक्ति नहीं बढ़ती, वह ज्ञान अज्ञान है। जिसमें त्याग और संयम नहीं है, वह पंडित नहीं, अपंडित है।

जैन ग्रंथों में 'बाल' और 'पंडित'–ये दो शब्द प्रचलित हैं। बाल तीन प्रकार के होते हैं। एक बाल होता है अवस्था से, दूसरा बाल होता है अज्ञान से और तीसरा बाल होता है असंयम से। जिसमें त्याग की क्षमता नहीं है, वह सत्तर वर्ष का हो जाने पर भी 'बाल' कहा

जाएगा। जिसमें त्याग की क्षमता है, अस्वीकार की क्षमता है, बलिदान की क्षमता है, वह चाहे बीस वर्ष का ही हो फिर भी उसे पंडित कहा जाएगा, बाल नहीं कहा जाएगा। गीता में पंडित उसे कहा है जिसके सारे समारंभ वर्जित हो गए हैं। जैन आगम सूत्रकृतांग में एक प्रश्न किया गया है कि 'बाल' और 'पंडित' किसे कहा जाए? सूत्रकार ने उत्तर दिया–**'अविरइं पडुच्च बालेत्ति आह, विरइं पडुच्च पंडिएत्ति आह'**– जिसमें अविरति है, अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं है, वह 'बाल' है। जिसमें विरति है, अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करने की क्षमता है, वह 'पंडित' है।

इच्छा प्राणीमात्र का असाधारण गुण है, विशिष्ट गुण है। जिसमें इच्छा नहीं होती, वह प्राणी नहीं होता। यह प्राणी और अप्राणी की भेदरेखा है। मनुष्य में इच्छा पैदा होती है। इच्छा पैदा होना एक बात है किन्तु इच्छा को स्वीकार करना और इच्छा को अस्वीकार करना दूसरी बात है। इच्छा की कांट-छांट मनुष्य ही कर सकता है। अन्य प्राणी ऐसा नहीं कर सकते। मनुष्य की विवेक चेतना जागृत होती है, इसलिए वह हर इच्छा को स्वीकार नहीं करता। यदि वह प्रत्येक इच्छा को स्वीकार करता चले तो सारी व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। एक सुन्दर मकान देखा, किसकी इच्छा नहीं होगी कि मैं इस मकान में रहूं ? रास्ते में खड़ी सुन्दर कार को देखा, कौन नहीं चाहेगा कि मैं इसमें सवारी करूं ? इच्छा हो सकती है। पर वह यह सोचकर इच्छा को अमान्य कर देता है कि यह मेरी सीमा की बात नहीं है। यह है विवेक-चेतना का काम।

शिक्षा का काम है कि वह मनुष्य मनुष्य में विवेक-चेतना को जगाए। इससे संवेग-नियंत्रण और संवेदनाओं तथा आवेगों पर नियन्त्रण करने की क्षमता पैदा होती है।

आज युग बदल गया, परिस्थितियां बदल गईं, किंतु हमारी-धारणाएं और संस्कार नहीं बदले। युग के साथ साथ जो परिवर्तन आना चाहिए था, वह नहीं आया। आज समाज में ओसर-मोसर की बात, छुआछूत और दहेज की बात वैसे ही चल रही है जैसे वह प्राचीन काल में चलती थीं। प्राचीन काल में, संभव है, इनका मूल्य

रहा हो, पर आज वे सब मूल्यहीन हो गए हैं। फिर भी ये सारी प्रवृत्तियां आज भी चल रही हैं। जब पढ़े-लिखे लोगों में ये धारणाएं देखते हैं तब लगता है कि शिक्षा ने कोई काम नहीं किया। दवा तो ली, पर उसका कोई असर नहीं हुआ। इसका अर्थ है कि वह व्यर्थ है। सिरदर्द की दवा लेने पर भी यदि सिरदर्द न मिटे तो दवा की कोई सार्थकता नहीं है। बहुत सारी सामाजिक समस्याएं जो सिरदर्द बनी हुई हैं। एक शिक्षित व्यक्ति में उनका परिवर्तन होना चाहिए। अनेक अन्धविश्वास और रूढ़ियां समाज के लिए सिरदर्द बनी हुई हैं। पढ़े-लिखे लोग भी इनके शिकार हैं। हम दहेज का ही प्रश्न लें। लड़की के घर वालों ने दहेज कम दिया। अब लड़की को यातनाएं दी जाती हैं, पीड़ा पहुंचाई जाती है और ऐसी स्थिति बना दी जाती है कि वह आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो जाती है या उसकी हत्या कर दी जाती है। ऐसा अनपढ़ लोगों में ही नहीं होता, पढ़े-लिखे लोगों में भी होता है। प्रश्न उभरता है कि शिक्षित लोग ऐसा क्यों करते हैं? इसका एक ही उत्तर है कि उनमें बुद्धि तो है पर अपने संवेग पर नियन्त्रण रखने की क्षमता नहीं है। संवेग होता है लोभ का। जब लोभ प्रबल होता है तब बुद्धि उसके नीचे दब जाती है। संवेग और बुद्धि का शाश्वत संघर्ष है। बुद्धि निर्णय लेती है कि यह काम अच्छा नहीं है, नहीं करना चाहिए। किंतु जब संवेग प्रबल होता है, बुद्धि बेचारी कहीं दब जाती है और कार्य वही होता है जो संवेग का दबाव होता है।

उदयपुर मेडिकल कॉलेज के प्रिन्सिपल एम.आर. मेहता ने बताया कि उनके पास सेना का एक बहुत बड़ा अधिकारी चिकित्सा के लिए आया। वह शराब बहुत पीता था। शराब के कारण उसका लीवर और फेफड़े खराब हो गए थे। वह भयंकर रोग से पीड़ित था। वह शराब छोड़ना चाहता था, पर वह छूट नहीं रही थी, इसीलिए चिकित्सा की शरण में आया।

प्रश्न होता है कि इतना बड़ा अधिकारी, शिक्षित व्यक्ति, जानता है कि शराब खराब है, फिर भी शराब पीता है, क्यों? आप भी कह सकते हैं कि बुराई जानता हुआ भी आदमी शराब क्यों पीता है? यहां

हमें एक सचाई पर ध्यान देना होगा। हम अनजान में गलतियां बहुत कम करते हैं। अधिकतर गलतियां जानते हुए ही होती हैं। अनजान में चलते चलते ठोकर लग सकती हैं, पर कोई आदमी आत्महत्या करने के लिए पांचवीं मंजिल से गिरेगा तो वह अनजान में नहीं गिरेगा। वह तो जानबूझकर ही गिरेगा। कभी चलते चलते दुर्घटना हो सकती है। पर रेल के सामने जाकर सोना अनजान में नहीं होता। आदमी जानबूझकर गलती क्यों करता है? वह गलती इसलिए करता है कि संवेग पर उसका नियंत्रण नहीं है। संवेग का जैसा दबाव होता है, वह वैसे ही करता है। शिक्षा के द्वारा क्या हम अज्ञान को मिटाने का ही प्रयत्न करें या संवेग पर नियंत्रण स्थापित करना भी सीखें? इसका उत्तर हमें खोजना होगा। यदि हम इस बिंदु पर ही अटके रह गए कि केवल अज्ञान को मिटाना है, बौद्धिक विकास करना है तो स्वस्थ समाज के निर्माण और समाज व्यवस्था के परिवर्तन की बात नहीं सोची जा सकती। चक्र जिस गति से चल रहा है, वह वैसे ही चलता रहेगा। आदमी ने राजतंत्र को बदला और उसके स्थान पर जनतंत्र ले आया। पर, हुआ क्या ? प्रणाली बदल गई पर आदमी तो नहीं बदला। जनतंत्र की प्रणाली में सत्ता पर बैठने वाला जानता है कि मैं स्थाई नहीं हूं, जन्मा शासक नहीं हूं। मुझे कोई पैतृक अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है। पर उसके मन में दूसरी भावना घर कर गई कि जितना अवकाश प्राप्त होता है उतना लाभ उठा लेना चाहिए। यही कारण है कि राजतंत्र में राजाओं का जो वैभव था, जो ठाटबाठ था, आज जनतंत्र के शासक का उससे कम नहीं है, उससे अधिक वैभव और ठाटबाट है। पहले छोटे छोटे राज्य होते थे, रियासतें होती थीं, सीमित आय और सीमित व्यय होता था। राजस्थान में कितनी रियासतें थीं ? आज पूरा राजस्थान एक बड़ा प्रान्त (राज्य) बन गया। असीम शक्ति केन्द्रित हो गई। आज राजस्थान का जो शासक है, उसके हाथ में अपार शक्ति आ गई, जिसकी कल्पना छोटी छोटी रियासतें वाले राजा नहीं कर सकते। यह स्थानान्तरण तो हुआ, राजा के स्थान पर दूसरा जनतन्त्री शासक आ गया, पर रूपान्तरण नहीं हुआ। व्यवस्था का परिवर्तन तो हुआ, पर हृदय का परिवर्तन नहीं

हुआ। प्रश्न है व्यक्तित्व के रूपान्तरण का। केवल स्थान बदलने से कुछ नहीं होता।

एक कोयल आम के पेड़ पर बैठी थी। उधर से एक कौआ तेज रफ्तार से उड़कर जा रहा था। कोयल ने पूछा–'भैया ! कहां भाग रहे हो?' कौआ बोला–'बहिन ! इस देश को छोड़कर विदेश जा रहा हूं, क्योंकि यहां मेरा सम्मान नहीं है। जहां जाकर बैठता हूं, वहां से उड़ा दिया जाता हूं। सर्वत्र यह अपमान मुझे सहन करना पड़ता है' कोयल बोली–'भैया! स्थान को बदलने से क्या होगा? तुमने 'कां', 'कां' करना छोड़ा या नहीं? इसे बदले बिना कुछ नहीं होगा। तुम चाहे विदेश में चले जाओ, वहां भी तुम उड़ा दिए जाओगे।' स्थान परिवर्तन से कुछ नहीं होता, स्वभाव और वाणी को बदलने से ही सम्मान मिल सकता है।

प्रश्न है स्वभाव को बदलने का। हमें इस ओर प्रयत्न करना है। मनुष्य बदले, व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो, केवल स्थानान्तरण नहीं। हमें उपाय सोचना चाहिए। कोरा सिद्धांत बहुत साथ नहीं दे सकता। उसकी उपयोगिता है। उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु उपयोगिता एक सीमा तक है। जब तक सिद्धान्त का अभ्यास नहीं होता, तब तक कार्य पूरा नहीं बनता।

आज जो प्रश्न धर्म के सामने हैं, वे ही प्रश्न शिक्षा के सामने भी हैं। धर्म के सामने एक प्रश्न आता है कि आज इतने धर्म हैं, धर्मगुरु हैं, प्रवचन और क्रियाकांड हैं, फिर भी आदमी वैसा का वैसा है। अनैतिकता बढ़ी है, घटी नहीं। फिर धर्म की अर्थवत्ता क्या रही? उसकी व्यर्थता दृष्टिगोचर होती है। मैं इस विषय पर जो चिंतन प्रस्तुत करता हूं वह यह है कि धर्म और धार्मिक बहुत हैं, प्रवचन और क्रियाकांड भी बहुत हैं, उपदेश करने वाले और सुनने वाले भी बहुत हैं, पर कोई व्यक्ति कोर्स पूरा नहीं करता। कोर्स पूरा किए बिना वह लाभदायक नहीं होता।

धर्म के कोर्स के तीन घटक हैं– श्रवण, मनन और निदिध्यासन। सुनना, मनन करना और फिर ध्यान या अभ्यास करना। **'सवणे नाणे विण्णाणे पच्चक्खाणे'**–यह पूरा कोर्स है। सुनो, जानो, विवेक करो

और प्रत्याख्यान करो– हेय को छोड़ो। आज केवल सुना जाता है, अभ्यास नहीं किया जाता। अभ्यास की बात छूट गई। इसीलिए समस्याएं बढ़ रही हैं।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा–मन चंचल है, दुर्निग्रह है, पकड़ा नहीं जाता। क्या इसका भी निग्रह किया जा सकता है? कृष्ण बोले– **अभ्यासेन च कौन्तेय ! वैराग्येन च गृह्यते**–अर्जुन ! मन का निग्रह दो उपाय से हो सकता है–अभ्यास और वैराग्य। पतंजलि ने भी समाधि चर्चा करते-करते यही कहा–**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** मन का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है–**'तद् अधिगमाद् निसर्गाद् वा'**–किसी को सम्यक्दर्शन निसर्ग से प्राप्त हो जाता है और कुछ व्यक्ति अभ्यास के द्वारा उसे प्राप्त करते हैं।

आदमी प्रयोग करना भूल गया, इसीलिए धर्म के द्वारा कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है। यही बात शिक्षा के क्षेत्र में हो रही है। शिक्षा में भी सैद्धांतिक पक्ष मजबूत है, पर प्रायोगिक बात नहीं है। सिद्धान्त और प्रयोग–दोनों अभिन्न हैं। इनको अलग नहीं किया जा सकता। जब आचार्यश्री जयपुर में थे, तब राजस्थान के शिक्षामंत्री भी चन्दनमल जी बैद आए, बातचीत हुई और उन्होंने घोषणा की कि नैतिक शिक्षा को अनिवार्य किया जाए। हमने कहा–नैतिक शिक्षा अनिवार्य की है, यह शुभ है। पर, नैतिक शिक्षा देने वाली दो-चार पुस्तकें विद्यार्थी के पाठ्यक्रम में जुड़ जाने मात्र से कुछ नहीं होगा। आज का विद्यार्थी ऐसे ही पुस्तकों के भार से बोझिल है, फिर इन पुस्तकों से और अधिक बोझिल हो जाएगा। इससे बहुत बड़ा परिणाम नहीं आ सकता। केवल नैतिक सैद्धान्त को पढ़ा देने से कुछ लाभ नहीं है। विद्यार्थी को प्रयोग सिखाना चाहिए, जिससे कि वह अपना व्यक्तित्व रूपान्तरित कर सके।

प्रयोग की बात हमारे सामने बहुत स्पष्ट थी। बौद्धिक विकास के लिए जैसे कंठस्थ किया जाता है, अभ्यास किया जाता है, वैसे ही व्यक्तित्व के विकास के लिए भी कुछ अभ्यास करना आवश्यक हो जाता है। विद्यार्थी को अन्ततः समाज में आना है, जीना है, उसे

सामाजिक प्राणी बनना है। उसे समाज के साथ संगति बिठाने के लिए, राष्ट्र के लिए प्रामाणिक व्यक्ति साबित होने के लिए, इसी जीवन से अभ्यास करना होता है। विद्यार्थी जीवन में बालक अपने आपको विद्यार्थी मानकर चलता है। शिक्षा के क्षेत्र में मंजिल नहीं होती। शिक्षा तो मार्ग है। मंजिल तो आखिर समाज है। वहां उसे रहना है। उसके साथ उसे संगति बिठानी है। ऐसा होने पर ही उसकी सार्थकता होगी। जहां समाज में हजारों लोग होते हैं, वहां संवेगों का सामंजस्य अत्यन्त आवश्यक होता है। तभी आदमी शांतिपूर्ण जीवन जी सकता है। जहां संवेगों का सामंजस्य नहीं होता है वहां रोज लड़ाई, कलह होता रहता है। पति-पत्नी भी सुख से नहीं जी सकते। सुख से जीने के लिए उन्हें संवेगों पर नियन्त्रण पाना होता है।

कलह, संघर्ष, वैमनस्य आदि इसलिए होते हैं कि व्यक्ति अपने संवेगों पर नियन्त्रण नहीं रख पाता। ऐसी स्थिति में पारिवारिक और सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, सुखी नहीं रह सकता। सभा-संस्थाओं में भी आपसी कलह चलते रहते हैं। एक दूसरे के संवेगों को सहन करना लोग नहीं जानते। वे कांट-छांट करना नहीं जानते। यह सारा संघर्ष संवेगों का संघर्ष है। मानसिक शान्ति और विश्वशांति की बात संवेगों के नियमन पर आधारित है। अतः हमें सोचना होगा कि शिक्षा के साथ जैसे बौद्धिक विकास की बात जुड़ी हुई है, वैसे ही उसके साथ संवेग-परिष्कार की बात जुड़े। ऐसा होने पर ही शिक्षा अभ्यासात्मक या प्रयोगात्मक हो सकती है। तभी उसकी सार्थकता होगी।

जीवन-विज्ञान का यही आधार-बिन्दु है। इस बिन्दु पर शिक्षा प्रणाली का विकास होने पर शिक्षा का अभूतपूर्व अवदान हो सकता है।

संवेग-नियंत्रण की पद्धति

मनुष्य में मौलिक मनोवृत्तियां और संवेग होते हैं। संवेग जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। इसलिए उन पर अनुशासन करना विकासशील प्राणी के लिए बहुत आवश्यक है। विद्यार्थी के जीवन में इसकी जटिल समस्या संक्रमण–काल में आती है। जब दो अवस्थाओं का संधिकाल होता है तब एक खतरनाक मोड़ उपस्थित होता है। आठ–नौ वर्ष की अवस्था, ग्यारह–बारह वर्ष की अवस्था और सतरह–अठारह वर्ष की अवस्था–ये तीन ऐसे मोड़ है जहां अत्यन्त सावधानी और सजगता की जरूरत रहती है। शिशु किशोर बनता है। उसकी मांसपेशियां शक्तिशाली बनती हैं। जब मांसपेशियां शक्तिशाली बनती हैं तब शरीर में शक्ति का प्रारंभ होता है। यह किशोरावस्था की दहलीज है। इस पर पैर रखते ही कुछ शारीरिक परिवर्तन होते हैं, क्रियाएं बदलती हैं। यौवन के बीज अंकुरित होने लगते हैं और शरीर में उभार आता है। इस अवस्था में भय, क्रोध, मान, अपमान का बोध, सत्कार और तिरस्कार की अनुभूति–ये सारे संवेग प्रबल बनते हैं। यदि इस अवस्था के संवेगों को ठीक ढंग से संभाला जाए, उन्हें अनुशासित किया जाए तो जीवन की गाड़ी ठीक पटरी पर चल सकती है। अन्यथा गाड़ी पटरी से नीचे उतर जाती है।

ये संतुलित संवेग हमारे ग्रंथितंत्र और नाड़ीतंत्र–दोनों को प्रभावित करते हैं। जब ये दोनों तन्त्र संतुलित रहते हैं तब जीवन का क्रम उचित ढंग से चलता है। इसमें विकार होते ही जीवन गड़बड़ा जाता है। विकार का मूल कारण है असंतुलित संवेग। ये विकारों को उत्पन्न करते हैं। एक बच्चा चिड़चिड़े स्वभाव का है, अन्यमनस्क है। इसका कारण क्या है? कारण है असंतुलित संवेग। इसके फलस्वरूप बालक में विचित्र प्रकार की जटिल आदतें बन जाती हैं कामुकता का उभार अधिक हो जाता है, वह अपराध में फंस जाता है।

आज बाल-मनोविज्ञान पर काफी कार्य हुआ है। बाल अवस्था में जो आदतें बनती हैं, उनके कारण भी खोजे गए हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में ध्यान देना बहुत जरूरी है कि बालक की आदतें जटिल न बनें वह विकारों में न फंसे। इसके लिए उसके संवेगों पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे अक्षर-बोध शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है वैसे ही जीवन के निर्माण का बोध भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जैसे भाषा और तर्क का बोध शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है वैसे ही जीवन के निर्माण का बोध भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जैसे गणित का ज्ञान शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है वैसे ही जीवन-निर्माण का ज्ञान सिखाना भी शिक्षा का अनिवार्य अंग है। अक्षर-बोध, गणित का ज्ञान, भाषा और तर्क का बोध--ये आजीविका चलाने के साधन हैं। ये जीवन के साध्य नहीं हैं। कभी कभी आदमी साधन को प्रथम मान लेता है और मूल को भुला बैठता है। आदमी का सारा ध्यान साधन पर अटका रहता है। साधन जिसके लिए है, वह उपेक्षित रह जाता है। सब्जेक्ट आंखों से ओझल हो जाता है और सारा ध्यान ऑब्जेक्ट पर अटका रह जाता है। एक मार्मिक घटना है।

एक सेठ के घर आग लग गई। पड़ोस के लोग एकत्रित हुए और घर का सारा कीमती सामान बाहर निकालने लगे। सारा कीमती सामान बाहर निकाल लिया गया। सेठ प्रसन्न था। उसने सोचा, कोई बात नहीं, आग लगी तो लगी, पर कीमती सामान बचा लिया। सेठानी बाहर गई हुई थी। आग की बात सुनते ही वह दौड़ी दौड़ी आई और उसने सेठ से पूछा--आग कैसे लगी? सेठ ने कहा--आग के कारण का कोई पता नहीं है, पर हम सबने मिलकर घर का सारा कीमती सामान बचा लिया है। आभूषणों की पेटी आदि सब पदार्थ बाहर निकाल दिए हैं। सेठानी ने कहा--'अरे मेरा बच्चा कहां है? मैं उसको भीतर के कमरे में सुलाकर गई थी।' सेठ बोला--'उसे तो निकालना ही भूल गए। उसकी याद नहीं रही।' सेठानी चिल्लाने लगी ! सेठ को अपनी भूल का अहसास हुआ। सामान निकाल लिया, बच्चा जलकर मर गया।

भोग्य पदार्थ निकाल लिए गए और भोक्ता आग में जलकर भस्म हो गया। भोग्य बचा, पर उसको भोगने वाला नहीं रहा।

क्या आज शिक्षा के क्षेत्र में यह नहीं हो रहा है। हमारा ध्यान सब्जेक्ट पर, भोक्ता पर नहीं है। सारा ध्यान भोग्य पर, आब्जेक्ट पर केन्द्रित है। यह एक दुर्व्यवस्था है। इसका प्रतिरोध या प्रतिकार बहुत आवश्यक है।

मैं यह नहीं कहता कि साधनों पर ध्यान नहीं जाना चाहिए। साधन जरूरी है। उन्हें टाला नहीं जा सकता। मुख्य बात यह है कि वे जिसके लिए हैं, वह उपेक्षित नहीं होना चाहिए।

संवेगों का परिष्कार इसलिए जरूरी है कि यदि बालक अपने विद्यार्थी जीवन में असंतुलित संवेग वाला बन गया तो वह समाज के लिए सिरदर्द बन जाएगा। हम नहीं चाहते कि विद्यार्थी समाज के लिए सिरदर्द बने। आज तो यह स्थिति है कि विद्यार्थी शिक्षा के क्षेत्र में भी सिरदर्द बन जाता है। जो शिक्षाकाल में सिरदर्द बन जाता है वह आगे जाकर पूरा सिरदर्द बनेगा ही। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी के बौद्धिक विकास की तरफ जैसे ध्यान दिया जाता है वैसे ही उसके भावात्मक विकास की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए संवेग का परिष्कार करना बहुत आवश्यक है।

किशोर अवस्था के आते आते शारीरिक उभार के साथ, अंगों के विकास के साथ, कुछ प्रवृत्तियां अनायास बन जाती हैं। इसे नकारा नहीं जा सकता। शिक्षा के क्षेत्र में शरीर-मनोविज्ञान की या जैविक रसायनों के अध्ययन की जो उपेक्षा हुई है उससे शिक्षा का प्रासाद पूरा बना नहीं, अधूरा ही रह गया। शिक्षा का उद्देश्य है—सर्वांगीण विकास में केवल बौद्धिक विकास की बात पर्याप्त नहीं होती।

सर्वांगीण विकास के लिए चार बातें आवश्यक हैं—

१. शारीरिक विकास
२. मानसिक विकास
३. बौद्धिक विकास
४. भावनात्मक विकास

आज के विद्यालयों में बौद्धिक विकास पर्याप्त मात्रा में कराया

जाता है और शारीरिक विकास के लिए भी छुटपुट प्रयत्न चलते रहते हैं। ये दो प्रकार के विकास होते हैं, किन्तु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास के लिए वहां बहुत कम संभावनाएं रहती हैं। इन दोनों का विकास होना आवश्यक है। इनके विकास का मूल उपाय है—संवेगों का परिष्कार।

भय एक संवेग है। इसके कारण मनुष्य शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं को भोगता है। यदि भय और चिन्ता का संवेग टलता है, खतरे की बात कम होती है तो बहुत सारी बीमारियां भी टल जाती हैं, मनोकायिक (साइकोसोमेटिक) बीमारियों में परिवर्तन आ जाता है।

प्रश्न है कि संवेगों का परिष्कार कैसे किया जाए? उसकी पद्धति क्या है?

पहली बात है—सैद्धान्तिक अर्थात् मूल्यबोध। जीवन-विज्ञान की पद्धति में सोलह जीवन-मूल्यों का निर्धारण किया गया है।

विद्यार्थी के सामने कोई आदर्श होता है तो वह उसके अनुसार प्रेरणा लेता है। संकल्प, तितिक्षा, सहिष्णुता, साहस, अभय—ये मूल्य हैं, आदर्श हैं। इन मूल्यों के आधार पर विद्यार्थी संकल्पना करता है, चिन्तन करता है। इसलिए सबसे पहली बात है विद्यार्थी के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करना, आदर्श की प्रतिमा को उपस्थित करना। उसके जीवन का किस प्रकार से निर्माण करना है उस प्रकार की प्रतिमा उसके सामने उपस्थित करना। यह सैद्धान्तिक पक्ष है। केवल सैद्धान्तिक पक्ष पर्याप्त नहीं है। उसके लिए प्रायोगिक विधि से गुजरना होगा। प्रायोगिक पक्ष के बिना बात अधूरी रह जाती है।

आदमी भय को छोड़ना चाहता है। भय, क्रोध आदि किसी को अच्छे नहीं लगते। 'बच्चा भी क्रोध करता है, पर वह जानता है कि क्रोध का परिणाम बुरा होता है। एक बच्चा मेरे पास आकर बोला—'मुझे गुस्सा बहुत आता है।' मैंने कहा—'आता है तो आता है। इससे क्या फर्क पड़ता है?' वह बोला—'इससे झंझट बढ़ता है। माता-पिता को अच्छा नहीं लगता। लड़ाइयां होती हैं।' बच्चा भी इन सब बातों को समझता है।

पर प्रश्न है कि क्रोध, भय आदि को कैसे मिटाएं? कैसे कम

करें? ज्ञान मात्र से आचरण की दूरी नहीं मिटती। कथनी और करनी की दूरी बोध-मात्र से नहीं मिटती। इसके लिए चैतन्य-केन्द्रों का जागरण बहुत महत्वपूर्ण है। हमें वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से इस पर विचार करना होगा। आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि जिस व्यक्ति का तृतीय नेत्र जागृत होता है, वह अपने भावों पर कन्ट्रोल कर सकता है। तीसरे नेत्र का उद्घाटन और हृदय परिवर्तन–ये दो माध्यम हैं संवेगों को परिष्कृत करने के लिए।

हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो जिस व्यक्ति का पीनियल ग्लॉन्ड सक्रिय होता है, वह अपने संवेगों पर नियंत्रण कर सकता है। अथवा हाइपोथेलेमस, जो भाव-संवेदना का केन्द्र है, उसको नियंत्रित करने पर संवेगों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है।

दोनों दृष्टियां–आध्यात्मिक और वैज्ञानिक–लगभग समान रेखा पर आ जाती हैं। परिवर्तन के वे ही स्थान आ जाते हैं।

हृदय परिवर्तन का अर्थ समझने में इन शताब्दियों में गड़बड़ हुई है। हृदय का अर्थ रक्त का शोधन करने वाला या रक्त को फेंकने वाला अवयव नहीं है। उसका क्या परिवर्तन किया जाये और उसके परिवर्तन से भाव परिवर्तन कैसे हो जाए? हमने इस पर बहुत विचार और मनन किया। हृदय परिवर्तन के संदर्भ में हृदय का अर्थ है मस्तिष्क का वह भाग जिसे हम 'हाइपोथेलेमस' कहते हैं। एक हृदय है कि धड़कने वाला जो फेफड़ों के पास है। एक हृदय है मस्तिष्क में। हमें उसमें परिवर्तन लाना है। यही है हृदय परिवर्तन का रहस्य। मस्तिष्क का जो 'फ्रन्टल लॉब' है, जिसे हम योग की भाषा में शान्तिकेन्द्र कहते है, वह हमारे भावों और संवेगों के लिए जिम्मेवार है। जब कभी मन में विनम्रता का भाव जागृत होता है, ललाट झुक जाता है। यह प्रतीक है हृदय परिवर्तन का। इस केन्द्र को जागृत करना है, इसमें परिष्कार लाना है।

दूसरा है पीनियल ग्लॉन्ड में परिष्कार लाना। यह ज्योति-केन्द्र का स्थान है। शान्तिकेन्द्र-प्रेक्षा और ज्योतिकेन्द्र-प्रेक्षा–ये दो प्रयोग हैं भाव परिष्कार या संवेग परिष्कार के। इनसे संवेगों को अनुशासित किया जा सकता है। यदि विद्यार्थी को, दस-बारह वर्ष की अवस्था से

ही ये प्रयोग कराएं जाएं तो उसमें संवेग संतुलन होगा, वह पारिवारिक और सामाजिक जीवन अच्छे ढंग से जी सकेगा। वह न अति कामुक और न अति चिड़चिड़ा होगा। उसमें न उदासी होगी और न वह अन्यमनस्कता का शिकार ही होगा।

आजे जेनेटिक इन्जीनियरिंग में यह चर्चा चल रही है कि कुछ दशकों के बाद यह स्थिति बन सकती है कि माता-पिता जैसा लड़का चाहेंगे वैसे लड़के का जीन उन्हें लेबोरेटरी से मिल जाएगा। वकील, डॉक्टर, दार्शनिक आदि की जीन खरीद सकेंगे और उन्हीं के अनुरूप बच्चा प्राप्त कर सकेंगे। यह कब संभव होगा, ऐसा निश्चित नहीं कहा जा सकता पर जीन के क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिकों का यह अभ्युपगम है, कन्सेप्ट है और वे इसे सत्य करने में जुटे हुए हैं।

आज हम यह कह सकते हैं कि विद्यार्थी को बचपन से ही यदि संवेग-परिष्कार का अभ्यास कराया जाए तो माता-पिता की इच्छा को शिक्षक पूरा कर सकेगा। उन्हें एक अच्छा और सुसंस्कृत लड़का मिल जाएगा। यह कोरी कल्पना नहीं है, वैज्ञानिक बात है। आध्यात्मिक और वैज्ञानिक—इन दोनों दृष्टियों से यह प्रमाणित हो चुका है कि आदमी की आदतों को बदला जा सकता है। इसमें संदेह के लिए कोई स्थान ही नहीं है। संदेह अज्ञान के कारण होता है। कभी कभी आदमी इतना अज्ञान में होता है कि सचाई को नहीं समझ पाता।

दो मित्र नदी पर घूमने गए। उनके मन में नौका-विहार की भावना उठी। उन्होंने एक नौका किराए पर ली और बिना मल्लाह के नौका को लेकर चल पड़े। हलका सा तूफान आया और नौका डगमगाने लगी। उसके डूबने की नौबत आ गई। एक ने कहा—'अरे! नौका तो डूब रही है।' दूसरा बोला—'चिन्ता की क्या बात है। यह नौका अपनी तो है नहीं, किराए की है। डूबे तो भले ही डूबे।'

नौका किराए की हो सकती है पर डूबने वाले तो किराए के नहीं हैं? अज्ञान के कारण वे सचाई को नहीं पकड़ पाते।

संवेग-परिष्कार के दोनों प्रयोग इस दिशा में अचूक प्रयोग हैं। इनके अभ्यास से अनेक क्रोधी और व्यसनी व्यक्तियों ने अपने संवेगों

से छुटकारा पाया है। अनेक मद्यपायी और अन्यान्य मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्ति अपनी आदतों को छोड़कर सुख से जीवन यापन कर रहे हैं। भय की समस्याओं से त्रस्त व्यक्ति इन प्रयोगों से भयमुक्त होकर आज अभय का जीवन जी रहे हैं।

जब संवेग परिष्कृत होते हैं, तब नाड़ीतंत्र और ग्रन्थितंत्र का संतुलन बना रहता है। सामान्यतः हमारा यह विश्वास है कि संतुलित भोजन होता है तो जीवन अच्छा चलता हैं, शक्ति सही ढंग से काम करती है। यह गलत बात तो नहीं है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संतुलित भोजन होने पर भी यदि पाचनतंत्र संतुलित नहीं है तो भोजन अपना काम नहीं करेगा। जिसका पाचन ठीक नहीं है, वह कितना ही अच्छा खाता है, वह सारा व्यर्थ चला जाता है। प्रश्न होता है कि पाचनतंत्र को ठीक करना पहली बात है या संतुलित भोजन करना ? पहली बात है--पाचनतंत्र को स्वरथ बनाना। दूसरी बात है--संतुलित भोजन करना। क्या ग्रन्थितन्त्र को स्वस्थ रखना पहली बात है या संतुलित भोजन करना ? पहली बात है--ग्रन्थितंत्र को ठीक रखना। दूसरी बात है--संतुलित भोजन करना। यदि ग्रंथितन्त्र संतुलित रहेगा, पैन्क्रियाज ठीक है तो चयापचय की क्रिया ठीक चलेगी, सारी क्रियाएं ठीक चलेंगी। यदि गोनाड्स अनुशासित और संतुलित है तो कामुकता नहीं सताएगी।

जब शान्तिकेन्द्र सक्रिय होता है तो मनोबल बढ़ता है, घटता नहीं। वह व्यक्ति हर बात को सहन कर लेता है। उसमें सहने की शक्ति विकसित होती है। अन्यथा सुरूप और सुन्दर दीखने वाले व्यक्ति भी सामान्य परिस्थिति के समक्ष घुटने टेक देते हैं। शरीर से शक्तिशाली होने पर भी उनका मन कमजोर होता है। मनोबल उसका बढ़ता है जिसका ग्रंथितन्त्र संतुलित होता है। महात्मा गांधी का शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र था। पर उनका मनोबल इतना मजबूत था कि ब्रिटिश सरकार की सत्ता हिल उठी। यातनाएं गांधी को विचलित नहीं कर सकीं। इसका कारण यह है कि जिसका ग्रंथितंत्र और नाड़ीतंत्र शक्तिशाली होता है, वह व्यक्ति महान् होता है, कुछ करने वाला होता है। मांस, हड्डियां, चमड़ी आदि का सीमित उपयोग है। ये सहायक

फेक्टर हैं। मूल तत्त्व है नाड़ीतन्त्र और ग्रन्थितंत्र की सुरक्षा, व्यक्तित्व का निर्माण, अन्तःप्रज्ञा का निर्माण। इन सबका विकास होता है नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र की संतुलित अवस्था और निर्मलता के कारण। हमारा ध्यान इनकी ओर केन्द्रित होना चाहिए।

संवेग-परिष्कार के इन दो प्रयोगों के साथ तीसरा प्रयोग है—रंगों का ध्यान। अनुप्रेक्षाओं के साथ अनेक रंगों का ध्यान किया जाता है। रंग संवेगों के परिष्कार में बहुत सहायक होते हैं।

एक विद्यार्थी अत्यन्त चंचल है। कहीं टिक नहीं पाता। उसे नीले रंग का ध्यान कराएं। एक सप्ताह के बाद उसमें परिवर्तन आने लगेगा। रूस में इस विषय पर अनुसंधान और प्रयोग किये गये। एक विद्यालय के विद्यार्थी बहुत उद्दंड और चंचल थे। अधिकारियों ने वैज्ञानिक दृष्टि से सब बातों पर ध्यान दिया। उन्होंने वैज्ञानिकों को आमंत्रित किया। वे आए। उन्होंने देखकर कहा—इस मकान की खिड़कियों, दरवाजों, कुर्सियों तथा फर्श पर बिछी कालीनों का रंग गहरा लाल है। इस लाल रंग के स्थान पर गुलाबी रंग कर दिया जाए। विद्यालय के अधिकारियों ने वैसा ही किया। खिड़कियों, दरवाजों आदि को गुलाबी रंग से रंग दिया। कुछ ही समय पश्चात् विद्यार्थियों में परिवर्तन आने लगा। उनकी उद्दंडता और चंचलता कम हो गई।

रंग बहुत प्रभावित करते हैं। यह निष्कर्ष निकाला गया कि यदि स्त्री को अच्छे मूड में रखना हो तो उसे गुलाबी रंग के वातावरण में रखा जाए। उसका मड नहीं बिगड़ेगा। बच्चों पर गुलाबी रंग का प्रभाव पड़ता है।

नीले, पीले और गुलाबी रंग का ध्यान संवेगों पर प्रभाव डालता है, उनका परिष्कार करता है। एक आस्था उत्पन्न करने की आवश्यकता है। एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के निर्माण की जरूरत है। हम इस बात को स्थूल दृष्टि से न पकड़ें कि गुलाबी रंग को देखने से क्या होगा? कैसे दिखेगा गुलाबी रंग ? यदि वैज्ञानिक दृष्टि से सोचेंगे तो हम अपने संकल्प के द्वारा वैसा रंग पैदा कर सकते हैं। रंग के परमाणु चारों ओर बिखरे पड़े हैं। जहां प्रकाश है, सूर्य की रश्मियां हैं, वहां चारों ओर रंग ही रंग है। पेड़-पौधों में रंग कहां से होता है? अंधेरे

में हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। सूर्य की रश्मियां आते ही रंग दीखने लग जाते हैं। रंग कहां से आए? रंग सर्वत्र हैं। पीनियल ग्लाण्ड प्रकाश-संश्लेषी है। वह रंगों को पकड़ता है। वह प्रकाश में अधिक काम करता है। वह प्रकाश को ग्रहण करता है अर्थात् रंग को ग्रहण करता है। उससे हम अत्यधिक प्रभावित होते हैं। लाल रंग के कमरे में एक सप्ताह रह कर देखें, आप सिरदर्द से पीड़ित हो जाएंगे। सफेद रंग में ऐसा नहीं होता। काले रंग से जटिलताएं और बढ़ जाती हैं। हमारे में रंगों को पकड़ने की शक्ति है, क्षमता है। रंग संवेगों को उद्दीप्त करते हैं और शांत भी करते हैं। रंगों में उद्दीपन और शामक–दोनों शक्तियां हैं। संवेग परिष्कार में रंग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

चौथा प्रयोग है–दृष्टिकोण का विधायक होना। निषेधात्मक दृष्टिकोण से संवेग उद्दीप्त होते हैं। हम विद्यार्थियों में इस प्रकृति को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करें कि उनमें रचनात्मक या विधेयात्मक दृष्टि का जागरण हो। उनकी निषेधक दृष्टि कमजोर हो और विधायक दृष्टि बलवान् बने।

एक संन्यासी था। कोई घटना घटी, वह उदास और अशांत हो गया। उसने देखा मार्ग में एक भिखारी बैठा है। वह लंगड़ा है, एक हाथ से विकल है, फिर भी वह परम प्रसन्न है, शांत है। संन्यासी ने सोचा, मुझे सब कुछ उपलब्ध है, फिर भी मैं अशांत हूं, बेचैन हूं। वह भिखारी के पास गया और प्रसन्नता का गुर पूछा। भिखारी बोला–प्रसन्नता मेरा गुण है, मेरी आदत है। मेरे हाथ-पैर नहीं हैं, यह सच है। पर मैं कभी अभाव की ओर ध्यान नहीं देता, मैं सदा भाव को ही देखता हूं। मैं सोचता हूं, हाथ-पैर नहीं हैं तो क्या, मुझे सुन्दर मस्तिष्क तो मिला है। मुझे सोचने का कितना सुन्दर ढंग मिला है। यह सोचकर मैं सदा प्रसन्न रहता हूं। मेरे आंखें हैं। मैं सब कुछ देख सकता हूं। भिखारी की बात सुनकर संन्यासी अवाक् रह गया। उसका सिर झुक गया।

जो अभाव की ओर देखता है, वह निषेधात्मक भावों से भर जाता है। उसे कितना ही मिल जाए उसका नेगेटिव एटीट्यूड कभी

नहीं मिटेगा। जिसका एटीट्यूड पोजिटिव हो गया, भावात्मक हो गया, वह व्यक्ति बदल जाएगा।

एक संन्यासी को किसी ने गाली दी। वह शांत रहा। किसी ने पूछा—महात्माजी ! उसने आपको गाली दी, आपको दुःख नहीं हुआ? संन्यासी बोला—मुझे दुःख क्यों होता? उसने गाली तो दी, पीटा तो नहीं। कोई पीट देगा तो सोचूंगा, उसने मुझे पीटा ही पर मारा तो नहीं। कोई मुझे मार देगा तो मैं सोचूंगा, उसने मेरे प्राण ही लिए, पर धर्म तो नहीं लिया।

ऐसे व्यक्ति को कोई भी दुःखी बना नहीं सकता। यह विधायक दृष्टि का परिणाम है। इसके द्वारा संवेगों का संतुलन साधा जा सकता है। जब संवेग संतुलित होते हैं तब चरित्र का विकास होता है, जीवन का निर्माण होता है।

जिस जीवन और समाज की कल्पना की जा रही है, इक्कीसवीं शताब्दी के आदमी की कल्पना की जा रही है, वह आदमी शक्तिशाली तो होगा पर वह निराशा और निषेधात्मक भावों से घिरा रहेगा। प्रश्न यह है कि मूल आदमी को शक्तिशाली बनाना है या यंत्र-मनुष्य—रोबट को शक्तिशाली बनाना है?

जापान में ऐसे रोबट का निर्माण किया गया है जो मूल आदमी से भी ज्यादा आगे बढ़ा हुआ है। इससे होगा क्या? बड़ी बड़ी मशीनों ने हाथकरघों तथा हस्तशिल्प को मिटा डाला। अब वैज्ञानिक मूल आदमी को ही मिटाने में लगा है। यदि रोबट शक्तिशाली बनेगा तो मनुष्य कमजोर ही बनेगा। आज बौद्धिक व्यक्ति को यह चिंतन करना है कि रोबट भले ही बने पर मूल आदमी कमजोर न रहे। इस प्रश्न पर सबको चिंतन करना है। इस प्रक्रिया में संवेग-नियंत्रण और संवेद-परिष्कार की बात बहुत महत्वपूर्ण है।

संवेद-नियंत्रण की पद्धति

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। इसकी श्रेष्ठता का कारण है उसका मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली—स्पाइनल कार्ड सिस्टम। यह उसकी अपनी विशेषता है। उस जैसा विकसित मस्तिष्क, नाड़ीतंत्र और मेरुदण्ड प्रणाली अन्य किसी प्राणी को प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि वह प्रगति कर सकता है और सफलता के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। यदि आदमी मस्तिष्क की शक्ति का अपव्यय रोक देता है तो वह अपने जीवन में बहुत सफल हो सकता है। संवेदनाओं के कारण शक्ति का अपव्यय बहुत होता है। जब मस्तिष्क इन्द्रियों के साथ चलता है तब शक्तियां क्षीण होती हैं। जब मस्तिष्क इन्द्रियों से परे होता है तब शक्ति का अपव्यय रुक जाता है। आंखें खुली हैं। आदमी इधर-उधर देख रहा है। वह नहीं जानता कि मस्तिष्क को कितना काम करना पड़ता है। पूरा तंत्र सक्रिय हो जाता है। उसे शक्तियां जगानी पड़ती हैं। निरन्तर क्रियाशीलता शक्ति का अपव्यय करती है। आदमी निरंतर सक्रिय रहता है। सामने कोई चीज आई, आदमी देखने लग जाता है। कुछ आवाज आई, वह सुनने लग जाता है। नाक, कान, आंख, जीभ और त्वचा—ये सारे इतने सक्रिय रहते हैं कि कभी विश्राम लेते ही नहीं। कभी एक संवेद आता है, कभी दूसरा। कभी कोई संवेद उभरता है, कभी कोई संवेद उभरता है, सक्रियता बनी रहती है। यह ध्रुव सिद्धांत है कि जहां क्रिया है, वहां शक्ति का व्यय है। जहां अक्रिया है वहां शक्ति का संरक्षण है। हम अतिक्रिया के कारण शक्ति का सही उपयोग नहीं कर पाते। जो अपनी शक्ति का आवश्यक कार्यों के लिए उपयोग करना चाहता है, आगे बढ़ना चाहता है, उसे संवेदों पर नियन्त्रण करना जरूरी है।

एक संन्यासी या तपस्वी के लिए संवेद-नियंत्रण करना आवश्यक कार्य है। उसे इन्द्रिय-संयम भी करना चाहिए। किन्तु न केवल संन्यासी को, जीवन में सफलता चाहने वाले सभी व्यक्तियों को, एक सीमा तक संवेदनाओं पर नियन्त्रण करना चाहिए। जब इंद्रिय-संवेदनाओं

पर नियन्त्रण नहीं होता तब बहुत सारे बुरे परिणाम आते हैं। जीभ की संवेदनाओं पर नियन्त्रण न करने से अनेक बीमारियां होती हैं। लगभग पचास प्रतिशत बीमारियां जीभ की संवेदनाओं के कारण होती हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में भी यह बात पहले से ही मान्य थी, आज एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति में भी यह स्वीकृत हो गई है। हार्ट ट्रबल या ऐसी अन्य बीमारियों पर डॉक्टर सबसे पहले खाद्य पदार्थों पर प्रतिबन्ध लगाता है। वह कहता है--चिकनाई मत खाओ, घी मत खाओ, नशीली वस्तुओं का सेवन मत करो। बीमारी के साथ भोजन का गहरा संबंध है। भोजन का मानिसक शक्ति के साथ गहरा संबंध है।

दृष्टि का संवेदन है देखना। यह भी एक समझने की बात है कि कब देखना चाहिए? क्या देखना चाहिए? आंख के द्वारा पदार्थ के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित होता है। हम केवल देखते ही नहीं, ग्रहण भी करते हैं। दृष्टि का संवेदन भावों को बहुत प्रभावित करता है। 'जो देखने योग्य नहीं है, उसे नहीं देखना चाहिए'--यह भारतीय चिन्तन की परम्परा रही है। कहा है--**दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्**--आंखों से देखकर चलो। यदि आदमी आंखों से देखकर चलता है तो शक्तियां कम क्षीण होती हैं। यदि चलते समय कभी इधर और कभी उधर देखते हैं, दूर तक देखते हैं तो मस्तिष्क की बहुत शक्ति क्षीण होती है। देखने का नियम है कि सीधे देखो, दाएं-बाएं देखना उचित नहीं है। सीधे बैठकर पानी पीना चाहिए। टेढ़े-मेढ़े देखते हुए पानी पीने से शक्ति क्षीण होती है, प्राणधारा का प्रवाह बदल जाता है। जो व्यक्ति आगे बढ़ना चाहता है, उसे अपनी संवेदनाओं पर नियंत्रण करना होगा।

पिता ने तीनों पुत्रों को बुलाकर कहा--मैं प्रत्येक को हजार-हजार रुपये दे रहा हूं। तीन वर्षों तक तुम इनका उपयोग करना, फिर मुझे ये रुपये लौटा देना। तीनों ने स्वीकृति दी और रुपये लेकर चले गये। जो सबसे छोटा पुत्र था, वह संयमी था। उसने अपनी संवेदनाओं को नियंत्रित कर लिया था। उसने व्यवसाय प्रारंभ किया। संयम से रहने लगा। उसका व्यवसाय दिन-प्रतिदिन विकसित होता गया। दूसरा

पुत्र उतना संयमी नहीं था। उसने सोचा, खाने को रोटी चाहिए। रोटी मिल रही है, कौन व्यवसाय का झंझट करे। उसने रुपये ब्याज पर दे दिये। जो ब्याज मिलता उससे गुजारा कर लेता। सबसे बड़ा पुत्र संवेदनाओं का दास था। वह वहां गया, जहां संवेदनाओं की पूर्ति होती है। खूब मौज-शौक करने लगा। हजार रुपये खर्च हो गए। उसके पास अब एक भी पैसा नहीं रहा। वह दर-दर का भिखारी बन गया। वह पेट भरने के लिए जंगल में जाता, लकड़ियों का भारा ले आता और जो कुछ पांच-दस पैसे मिलते, उससे गुजारा करता।

तीन वर्ष पूरे हुए। तीनों पिता के पास गए। पिता ने कहा–लाओ, अपनी मूल पूंजी वापस करो। बड़ा पुत्र बोला–'पिताजी! मैं इन्द्रियों का दास बन गया था। इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति में मैंने सारा धन गंवा दिया। मेरे पास कुछ नहीं बचा। केवल शरीर बचा है और वह भी जर्जर। दूसरे पुत्र ने मूल पूंजी पिताजी को लौटाते हुए कहा–'पिताजी! यह मूलपूंजी मैंने सुरक्षित रखली थी। इसके ब्याज से जो प्राप्त होता, उससे जीवन-यापन करता रहा।' तीसरे पुत्र ने कहा–'पिताजी! मूल पूंजी सौ गुना बढ़ गई है। स्थान-स्थान पर मेरा व्यवसाय चल रहा है। ये रहे बही-खाते।'

पहले लड़के ने मूल पूंजी खो डाली। दूसरे ने मूल पूंजी सुरक्षित रख ली और तीसरे ने मूल पूंजी को बहुत बढ़ा लिया।

जिस व्यक्ति का अपनी संवेदनाओं पर नियंत्रण होता है वह बहुत आगे बढ़ जाता है। जिसमें नियंत्रण की पूरी क्षमता नहीं होती, एक सीमा तक होती है, वह मूल स्थिति में कायम रह जाता है। जो संवेदनाओं का दास बन जाता है, वह अपने जीवन की दुर्गति कर बैठता है। उसका अधःपतन होता है। हम इस सचाई का अनुभव करें कि संवेदनाओं पर नियंत्रण किए बिना जीवन में विकास नहीं किया जा सकता। यदि इस स्थिति का साक्षात्कार करना हो तो पश्चिमी जगत् की यात्रा करें। वहां एक नया दर्शन मिलेगा। वहां इतना बौद्धिक विकास, वैज्ञानिक दृष्टि का विकास और धन तथा सुख-सुविधा की सामग्री होने पर भी, इन्द्रियों की उच्छृंखलता के कारण वहां की स्थिति अत्यन्त दुःखद और पीड़ाकारक है। अमेरिका जैसे राष्ट्र में

अनेक नगरों की यह स्थिति है कि नागरिक घर से निकलता है और सायं यदि सकुशल लौट आता है तो वह उस दिन को लाख-लाख धन्यवाद देता है। पता नहीं, कब उसे गोली लग जाए। यह आवश्यक नहीं है कि झगड़ा होने पर गोली चले। कोई झगड़ा नहीं, कोई द्वेष नहीं, अकारण ही गोली चली और आदमी मर गया। ऐसा पागलपन आज छा गया है कि कोई भी, कभी भी, किसी की हत्या कर डालता है। यह पागलपन आता है संवेदनाओं के अनियन्त्रण से।

प्रश्न होता है कि संवेदनाओं पर नियंत्रण कैसे करें? आदमी संवेदनाओं के साथ चलता है, जीता है। ऐसी स्थिति में संवेदनाओं पर नियंत्रण करना सरल बात नहीं है। इन्द्रिय-संवेदनाओं से परे होकर जीना साधु-संन्यासियों के लिए तो साध्य हो जाता है, पर विद्यार्थी ऐसा कर सके, बहुत कठिन बात है। आज का बच्चा प्रारंभ से ही इन्द्रिय-संवेदनाओं के साथ जीता है। विद्यार्थी स्कूल से निकलता है तो सीधा ध्यान जाता है सिनेमाघरों पर। घर आता है तो ध्यान जाता है टी.वी. पर। कभी क्रिकेट की कोमेन्ट्री सुनता है और कभी फिल्मी गानें। उसका पूरा दिन इन्द्रिय की संवेदनाओं के सहारे बीतता है। धीरे-धीरे वह उसकी प्रकृति बन जाती है। वह परिणाम को नहीं जानता, विपाक को नहीं जानता। किंपाक का फल दीखने में सुन्दर होता है। उसका रंग-रूप मनोहारी होता है पर उसको खाने का परिणाम होता है मृत्यु। इन्द्रिय-संवेदनाओं की भी यही स्थिति है। ये संवेदनाएं प्रवृत्तिकाल में सुखद लगती हैं, पर उनका परिणाम कटु होता है। कुछ कार्य ऐसे होते है जो प्रवृत्ति-काल में अच्छे लगते हैं, पर उनका परिणाम दुःखद होता है। कुछ कार्य प्रवृत्ति-काल में बुरे होते हैं पर उनका परिणाम सुखद होता है। भारतीय दर्शन में वही प्रवृत्ति अच्छी मानी जाती है जिसका परिणाम कल्याणकारी होता है।

इन्द्रिय-संवेदनाओं का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता। बच्चा इस तथ्य को नहीं जानता, अतः माता-पिता और शिक्षक को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे यह भान हो सके कि इन्द्रिय-संयम जीवन-विकास के लिए आवश्यक है। बालक की अवस्था परानुशासन

की अवस्था है, आत्मानुशासन की अवस्था नहीं है। बालक जब किशोर बन जाए तब उसे परिणाम-बोध देना अत्यन्त जरूरी है। संवेदनाओं पर नियंत्रण पाने का उपाय है परिणाम-बोध। बच्चों को विपाक का बोध कराना, प्रवृत्ति का परिणाम क्या होगा, इसकी अवगति देना बहुत जरूरी है।

संवेदन-नियंत्रण का दूसरा उपाय है—श्वास-नियंत्रण। श्वास-नियंत्रण का अर्थ है—पूरा गहरा श्वास, दीर्घश्वास। यह एक विद्यार्थी के लिए बहुत जरूरी है, क्योंकि उसके मस्तिष्क के लिए आक्सीजन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। शिक्षा का संबंध है मस्तिष्क के साथ, ज्ञान-ग्रहण का संबंध है मस्तिष्क के साथ। पूरे शरीर को जितना आक्सीजन चाहिए उससे तिगुना आक्सीजन मस्तिष्क को चाहिए। उसकी पूर्ति दीर्घश्वास के द्वारा होती है। उस स्थिति में मस्तिष्क काफी सक्रिय हो जाएगा। उसकी क्षमता का विकास होगा। यदि आक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलेगा तो मस्तिष्क सुचारु रूप से काम नहीं कर पाएगा। विद्यार्थी में आलस्य और प्रमाद बढ़ेगा, उसका मन पढ़ाई में नहीं लगेगा। वह एकाग्र नहीं हो पाएगा। ज्ञान-ग्रहण की शक्ति क्षीण होने लगेगी। इसलिए विद्यार्थी के लिए दीर्घश्वास का प्रयोग बहुत लाभप्रद है। दीघश्वास भी लयबद्ध होना चाहिए। लयबद्ध श्वास को दो भाषाओं में समझाया गया है—

१. जितना समय श्वास लेने में लगे, उतना ही समय श्वास छोड़ने में लगे। प्रत्येक बार यही क्रम चले।

२. श्वास लेने में कम समय और श्वास छोड़ने में अधिक समय लगे। जैसे श्वास लेने में आठ मात्रा का समय लगता है तो छोड़ने में बारह मात्रा का समय लगना चाहिए, जिससे कि कार्बन पूरी मात्रा में निकल जाए। जब कार्बन पूरी मात्रा में निकल जाता है, तब न बेचैनी सताती है और न जम्हाई।

इस प्रकार लयबद्ध श्वास में दो बातें समानरूप से होंगी, चाहे तो श्वास लेने, निकालने में बराबर समय लगे या निकालने में ज्यादा समय लगे। इसका लाभ जान लेना भी आवश्यक है।

बच्चा जब १३-१४ वर्ष की अवस्था का होता है तब उसकी

थाइमस और पिनियल—ये दोनों ग्रन्थियां निष्क्रिय हो जाती हैं। थाइमस ग्रन्थि के निष्क्रिय होने का परिणाम है कि उसमें सहनशक्ति, चुस्ती, प्रसन्नता, आनन्द आदि का अभाव हो जाता है। पिनियल ग्रन्थि जब निष्क्रिय हो जाती है तब नियन्त्रण की शक्ति कम हो जाती है। दीर्घश्वास के प्रयोग से बालक अनेक चीजों से बच जाता है। १३-१४ वर्ष की अवस्था में यौन सक्रियता बढ़नी शुरू हो जाती है और पिनियल की निष्क्रियता के कारण नियन्त्रण की शक्ति कम हो जाती है। इस स्थिति में बालक अनेक बुराइयों का शिकार हो जाता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि की बात है। अब हम इस पर योगदृष्टि से विचार करें। कामवृत्ति का केन्द्र है—नाभि से गुदा तक का स्थान, उपस्थ का स्थान। यह अपान का स्थान है। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण रहता है तब वृत्तियां शांत रहती हैं। अब अपान पर प्राण का नियन्त्रण कम हो जाता है तब अधोगामी वृत्तियां सक्रिय होने लगती हैं।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विज्ञान की भी यही निष्पत्ति है और योग की भी यही निष्पत्ति है। दोनों की निष्पत्ति एक है।

दीर्घश्वास से अपान पर नियन्त्रण साधा जाता है। यदि विद्यार्थी को इसका ठीक अभ्यास करा दिया जाता है तो वह प्रारंभ से ही बुरी आदतों में नहीं फंसेगा। वह बुराइयों से बच जाएगा।

अनेक व्यक्ति पूछते हैं कि बुरे विचार बहुत आते हैं, उन्हें रोकने का क्या कोई उपाय है?

हम सीधा-सा उपाय बताते हैं कि दस मिनिट तक दीर्घश्वास का प्रयोग करें। एक मिनिट में दो श्वास लें, समस्या हल हो जाएगी। केवल विद्यार्थी ही नहीं, कोई भी इस प्रयोग से लाभ उठा सकता है। जब बुरे विचार, निम्न वृत्तियां, वासनाएं आक्रमण करती हैं तब दीर्घश्वास का प्रयोग कर इनको रोका जा सकता हैं। दीर्घश्वास इसका प्रतिरोधक है।

संवेदन-नियन्त्रण के लिए भी दीर्घश्वास बहुत आवश्यक है। आप यह न सोचें कि संवेदन-नियन्त्रण से आपकी गृहस्थी में अन्तर आ जाएगा। आप चिंता न करें, बाधा नहीं आएगी। किंतु इंद्रियों की

उच्छृंखलता के कारण जो समस्याएं आती हैं, उनसे बचा जा सकेगा।

संवेदन-नियन्त्रण का एक उपाय है—प्राणकेन्द्र पर ध्यान करना, यानी नासाग्र पर ध्यान करना। नाक का विकारों के साथ गहरा संबंध है। मस्तिष्क का एक भाग है—एनिमल ब्रेन। इसी के कारण मनुष्य में पाशविक वृत्तियां उभरती हैं। उसका संबंध नाक और इंद्रियों के साथ है। प्राचीन आचार्यों ने इसका अनुभव किया और इस पर विजय पाने के लिए नासाग्र पर ध्यान करने की बात कही। भगवान् महावीर की ध्यानमुद्रा में दोनों आंखें नाक पर टिकी देखी जाती हैं।

हम किसी भी दृष्टि से सोचें—चाहे बौद्धिक विकास के लिए, चाहे भावनात्मक विकास के लिए, चाहे जीविका की सफलता के लिए या सहअस्तित्व की सफलता के लिए, हमें संवेदों पर नियंत्रण करना होगा। यह एक उपाय है। अनुपाय कुछ भी नहीं है। जिसके पास उपाय नहीं है, वह हजार प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो सकता। जिसके पास उपाय है, वह थोड़े समय में ही सफलता की मंजिल तक पहुंच जाता है। इसलिए उपाय को खोजें, अपनाएं और मंजिल तक पहुंचें। संवेदों पर नियंत्रण पाने का मार्ग सबके लिए कल्याणकारी है। यदि प्रारंभ से ही विद्यार्थी को उपाय और परिणाम बोध से परिचित करा दिया जाए तो न केवल विद्यार्थी-जीवन अच्छा होगा, परन्तु उसका पूरा सामाजिक जीवन भी अच्छा होगा।

मूल्यपरक शिक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग

हमारे दो जगत् हैं। एक है भीतर का जगत् और दूसरा है बाहर का जगत्। भीतर का जगत् बहुत सूक्ष्म है और बाहर का जगत् स्थूल है। बाहर के जगत् से व्यवहार को नापा जा सकता है, देखा जा सकता है। भाव का जगत् सूक्ष्म है। उसे पकड़ना बहुत कठिन है। जैसा स्राव होता है वैसा भाव होता है, वैसा ही व्यवहार होता है। भाव आन्तरिक प्रेरणा है। उससे निरपेक्ष होकर व्यवहार करते हैं तो भाव और व्यवहार की संवादिता नहीं होती।

जीवन में मूल्यों का अवतरण हो, शिक्षा के साथ मूल्यों का बोध हो तथा विद्यार्थी के जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, यह वर्तमान की शिक्षा के साथ सुचिंतित विचार चल रहा है। कुछ समय पूर्व राजस्थान विश्वविद्यालय में कुलपतियों की एक बैठक हुई थी। उसमें सत्तर से अधिक कुलपति सम्मिलित हुए थे और उन्होंने मूल्यपरक शिक्षा पर काफी विचार विमर्श किया। सब चाहते हैं कि विद्यार्थी के जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा हो।

सत्य एक मूल्य है। इसके दो पहलू हैं—भावात्मक और व्यवहारात्मक। सिद्धांत का ज्ञान कराया जाता है, किंतु परिवर्तन की बात बहुत कम होती है। जितने सिद्धान्त हैं, जितना वाङ्मय है, जितने उपदेश हैं, उनका काम है जानकारी दे देना। किंतु उनसे भावात्मक परिवर्तन हो या व्यवहार बदले, ऐसा बहुत कम होता है। कभी किसी की बात सुनकर व्यक्ति का मस्तिष्क झंकृत हो उठता है और वह बदल जाता है, पर इसे सामान्य घटना नहीं माना जा सकता।

आज सभी धर्मोपदेशकों के समक्ष यह एक जटिल प्रश्न उपस्थित है कि प्रतिदिन प्रवचन, सत्संग और नानाविध उपासनाएं होने पर भी लोगों में कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता। लोग प्रतिदिन प्रवचन सुनते हैं, पर व्यवहार में कोई रूपान्तरण नहीं होता। यह क्यों?

एक दिन पिता ने पुत्र से कहा—'बेटे! मैं रोज प्रवचन सुनने के

लिए जाता हूं। तुम भी प्रवचन सुना करो। बहुत मार्मिक प्रवचन होता है।' दूसरे दिन पिता-पुत्र दोनों प्रवचन सुनने गए। मुनि ने उस दिन अद्वैतवाद पर प्रवचन करते हुए कहा—आत्मा एक है। सबकी आत्माएं समान हैं। मुनि ने इस विषय का विस्तार से विवेचन किया। लड़के का मन पसीज गया। प्रवचन सम्पन्न हुआ। पिता भोजन करने घर चला गया और पुत्र दुकान पर आ बैठा। वह किराने का व्यापारी था। यत्र-तत्र अनाज के ढेर लग रहे थे। एक गाय आई और ढेर में पड़े अनाज को खाने लगी। लड़के ने देखा, सोचा, मेरी और इसकी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। फिर अनाज खाए तो मुझे क्या? घर से दुकान की ओर आते हुए पिता ने दूर से ही देख लिया कि गाय अनाज खा रही है और पुत्र निश्चिन्त होकर बैठा है। पिता ने आते ही लड़के को डांटा। लड़के ने कहा—पिताजी ! आज ही तो सुना था कि आत्माएं सब समान हैं। गाय की आत्मा और हमारी आत्मा दो नहीं है, समान है। पिता ने कहा—'मूर्ख! वह बात तो प्रवचन में सुनने की थी। यदि उसे दुकान पर या घर पर लागू किया जाता है तो न दुकान चल सकती है और न घर चल सकता है।

यह सुनना स्थान से प्रतिबद्ध हो गया और आचरण की स्थान प्रतिबद्धता कोई दूसरी हो गई।

सत्य त्रैकालिक होता है। यह देश-काल से अतीत होता है। किंतु श्रवण, प्रवचन, वाणियां, सिद्धांत—ये सब स्थान प्रतिबद्ध हो गए। सुबह-शाम भगवान् का नाम लेना, दिन भर उसकी विस्मृति हो जाए तो कोई बात नहीं। धर्म-स्थान पर भगवान की पूरी चिंता करना और दुकान, घर या कार्यालय में उसे भूल जाना—यह आज की प्रवृत्ति है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोरा सिद्धान्त उतना उपयोगी नहीं है, जितना प्रयोग के साथ वह उपयोगी बनता है। भाव परिवर्तन के लिए सिद्धांत और प्रयोग—दोनों का समन्वय आवश्यक है। समन्वय जीवन का मूल्य है। इसलिए ज्ञान और क्रिया का समन्वय होना चाहिए। 'पढमं नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान और फिर क्रिया, पहले जानो फिर उसका अभ्यास करो।

सिद्धान्त या मूल्य-बोध को व्यर्थ नहीं माना जा सकता। उसकी

सार्थकता है। याद वह कोरा या अकेला है तो सार्थकता आधी हो जाती है, पूरी नहीं रहती। वह पूरी होती है अभ्यास या प्रयोग के द्वारा। पक्षी के दो पंख होते हैं। क्या वह दाएं पंख से उड़ता है या बाएं से ? उत्तर होगा, न वह केवल दाएं पंख से उड़ता है और न वह केवल बाएं पंख से उड़ता है। वह दोनों से उड़ान भरता है। एक पैर से चला जा सकता है, पर वह लंगड़ापन है। दोनों पैरों से ही ठीक चला जा सकता है। सिद्धान्त और अभ्यास—ये दो पंख हैं। इनके सहारे से ही ठीक उड़ान भरी जा सकती है। ये दो पैर हैं, इनके सहारे ही ठीक चला जा सकता है।

एक ओर वैज्ञानिक है और दूसरी ओर आध्यात्मिक या धार्मिक। यह समन्वय का दूसरा पक्ष है। दोनों में बहुत दूरी है। वैज्ञानिक समझता है कि धर्म कोरा बकवास है और धार्मिक समझता है कि वैज्ञानिक नास्तिक है, व्यर्थ की बातें प्रचारित करता है। दोनों एक दूसरे पर छींटाकशी करते हैं। किन्तु चिन्तनशील लोग मानते हैं कि अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आज के विद्यार्थी में यह दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए। विनोबा बहुत बार कहते—अब धर्म का युग नहीं है, अध्यात्म का युग है, राजनीति का युग नहीं है, विज्ञान का युग है। अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आचार्य तुलसी ने इस समन्वय की बात को आगे बढ़ाया। जीवन विज्ञान के पाठ्यक्रम में अध्यात्म और विज्ञान का पूरा समन्वय है। इसके क्रम में प्राचीन विद्याओं—अध्यात्म, योगदर्शन, कर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र का समावेश है तो अद्यतन विद्याओं—एनोटामी, यूरोलॉजी, साइकोलॉजी बायोकेमिस्ट्री आदि का भी समावेश है। इन दोनों विद्याओं—प्राचीन और अर्वाचीन का अध्ययन इस जीवन विज्ञान की पद्धति में कराया जाता है। सन् १९८४ में जोधपुर में हम थे। वहां भारत सरकार के दो बड़े संस्थान हैं—केन्द्रीय रूक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान (Central Arid Zone Research Institute) और 'काजरी ओर्डिनेन्स लेबोरेटरी'। दोनों में सैकड़ों वैज्ञानिक कार्यरत हैं। इन वैज्ञानिकों तथा लेक्चरारों का भी सहयोग रहा। उनके अनेक लेक्चर हुए और जीवन-विज्ञान के विद्यार्थियों ने उनका लाभ उठाया। जीवन—विज्ञान प्रशिक्षण की यह

परिकल्पना है कि आध्यात्मिक+वैज्ञानिक–ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण हो। कोरा आध्यात्मिक व्यक्तित्व या कोरा वैज्ञानिक व्यक्तित्व बहुत लाभदायी नहीं होता। दोनों से समन्वित व्यक्तित्व बहुत लाभप्रद हो सकता है। जीवन विज्ञान का विद्यार्थी बहुविध ज्ञान विधाओं का ज्ञान प्राप्त करता है, पर साथ ही साथ प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में पूरे प्रयोग भी करता है। यह है ज्ञान और क्रिया की समन्विति। जैसे मेडिकल साइन्स का विद्यार्थी जानता है कि अमुक अमुक ग्रंथियां कहां हैं? उनका कार्य क्या है? इसका उसे पूरा ज्ञान होता है। वह डाक्टर बन सकता है पर आध्यात्मिक+वैज्ञानिक नहीं बन सकता। हमें उनके आध्यात्मिक मूल्य की जानकारी भी होनी चाहिए। पिनियल का फंक्शन शारीरिक है, किन्तु उस पर ध्यान–एकाग्रता करने से क्रोध शांत हो सकता है। जोधपुर में मेडिकल कालेज के प्राफेसर ने कहा–हम पिनियल आदि ग्लॉन्ड्स के फंक्शन को जानते हैं, किन्तु उनके द्वारा भाव परिवर्तन किया जा सकता है, यह नहीं जानते। यह एक रहस्य की बात है। जैसे जैसे आज विज्ञान ने नई खोजे शुरू की हैं, वैसे वैसे नई बातें सामने आ रही हैं।

एक व्यक्ति के मन में पीड़ा है, शरीर में पीड़ा है, उस समय कोई धार्मिक प्रवचन सुनाया और उसकी पीड़ा शांत हो गई। ऐसे लोगों को भी देखा है जो केन्सर की बीमारी से आक्रान्त थे। उन्हें भयंकर पीड़ा होती थी, किन्तु जब उन्हें धार्मिक गीत और वाणी सुनाई जाती तब ऐसा लगता मानों उनके कोई पीड़ा है ही नहीं। ऐसा होता है, पर कैसे? यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक जगत् में इसकी सुन्दर व्याख्या प्राप्त है। जब व्यक्ति अपनी श्रद्धा की बात सुनता है, तब मस्तिष्क में 'एन्डोरफीन' की मात्रा बढ़ जाती है। वह ऐसा रसायन है जो पीड़ा को शांत करता है, दर्द को कम करता है।

काशी नरेश बीमार थे। ऑपरेशन होना था। उन्होंने सर्जन से कहा–एनेएथेसिया सुंघाए बिना ही मेरा ऑपरेशन कर देना। जब ऑपरेशन का समय हो, तब मुझे गीता दे दें। मैं उसका पाठ करूंगा और जब मैं संकेत करूं तब ऑपरेशन कर देना, मत हिचकना। सर्जन ने बात मान ली। उनका ऑपरेशन पूर्ण जागरूक अवस्था में

संपन्न हुआ। 'ओह' तक उनके मुंह से नहीं निकला।

हमारे संघ के एक श्रावक थे। वे चूरू जिले के एक गाव राजलदेसर में रहते थे। उनका नाम था चांदमल बैद। वे धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उनके अदीठ हो गई। उसका ऑपरेशन होना था। डाक्टरों ने कहा–ऑपरेशन बड़ा है, इसलिए सूंघनी सूंघनी होगी। वे वोले–मुझे मूर्च्छित करने की जरूरत नहीं है। मैं जब ध्यान में लीन हो जाऊं तब आप ऑपरेशन कर देना। समय की चिंता मत करना। वे पद्मासन में बैठ गए। ध्यान में लीन हो गए। ऑपरेशन प्रारंभ हुआ। दो घंटे लगे होंगे। वह सम्पन्न हुआ। उन्होंने ध्यान सम्पन्न किया।

प्रश्न होता है, ऐसा संभव कैसे होता है? इसका उत्तर है कि जब हमारे मस्तिष्क में प्रशान्त भाव जागृत होता है और एन्डोरफीन स्राव की मात्रा बढ़ती है, तब पीड़ा का अनुभव नहीं होता।

अनुप्रेक्षा भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया है। स्वतः-सूचना के द्वारा भाव-परिवर्तन होता है। घृणा, ईर्ष्या, भय, द्वेष, साम्प्रदायिकता–ये सारे भाव हैं। इनको अनुप्रेक्षा–सजेशन के द्वारा बदला जा सकता हे। अभय की अनुप्रेक्षा से भय का भाव शांत हो जाता है। मृदुता की अनुप्रेक्षा से क्रूरता का भाव धुल जाता है।

रंगों के ध्यान के द्वारा भी भाव-परिवर्तन होता है। ये सारे आन्तरिक प्रयोग हैं।

भाव से व्यवहार बदलता है और व्यवहार से भाव बदलता है। भाव और व्यवहार का गहरा संबंध है। हम मानते हैं कि जैसा भाव होता है, वैसा व्यवहार बनता है। किन्तु आज की एक पद्धति है 'बायोफीड'। इसके द्वारा व्यवहार को बदल कर भी भाव को बदला जा सकता है। बाहर के द्वारा भीतर को बदला जा सकता है और भीतर के द्वारा बाहर को बदला जा सकता है।

कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली के स्कूलों में 'अणुव्रत स्टोर' का प्रयोग किया गया। एक खुले कमरे में पेन्सिलें, कॉपियां, पाठ्यपुस्तकें तथा अन्याय सामान्य वस्तुएं, जो विद्यार्थियों के उपयोग में आती हैं, रख दीं। सबके मूल्यों की एक सूची टांग दी और विद्यार्थियों से कहा गया

कि नियत मूल्य वहां एक पेटी में डालकर वस्तुएं खरीद लें । न वहां कोई निरीक्षक था और न पैसा लेने वाला। यह प्रयोग चला। अप्रामाणिकता की कुछेक छुटपुट घटनाएं सामने आईं, पर अधिकांश विद्यार्थियों ने प्रामाणिकता से काम किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थियों में भाव-परिवर्तन हुआ है। यह व्यवहार-परिवर्तन के द्वारा भाव-परिवर्तन का उदाहरण है। जब व्यक्ति एक प्रकार का अभ्यास करता जाता है तब मांसपेशियों का अभ्यास भी भाव को बदल देता है। जिसको हाथ उठाने का अभ्यास होता है, उसे उत्तेजना के समय में सोचना नहीं पड़ता कि मुझे हाथ उठाना है, हाथ स्वयं उठ जाता है। मांसपेशियां इतनी अभ्यस्त हो जाती हैं कि सोचने की जरूरत ही नहीं होती। पहले दिन जब हम नए मकान की सीढ़ियां चढ़ते हैं तब ध्यान रखना होता है। किन्तु जब हम अभ्यस्त हो जाते हैं तब पांव स्वतः ऊपर चढ़ने-उतरने में स्खलित नहीं होते। मांसपेशियों को अभ्यास हो जाता है। ऊंट का तांगा चल रहा है। मालिक सो रहा है। ऊंट मार्ग-च्युत नहीं होता, मूल मार्ग पर बढ़ता जाता है, क्योंकि उसे अभ्यास हो चुका है।

फ्रांस के सेनापति की अगुलियां कट गईं। डाक्टर ने अंगुलियों का प्रत्यारोपण किया। जब सेनापति सामूहिक कार्यक्रमों में जाता, तब उसका हाथ दूसरों की जेबों में चला जाता। उसे भी आश्चर्य होता और देखने वाले भी स्तंभित रह जाते। कुछ दिन बीते। उसने डाक्टर को बुलाकर पूछा, डाक्टर ने ध्यान देकर कहा—गलती हो गई। प्रत्यारोपित अंगुलियां एक जेबकतरे की थीं इसलिए वे सीधी दूसरों की जेब में जाती हैं।

स्नायुओं और मांसपेशियों को अभ्यास होता है और वे संस्कार उनमें जम जाते हैं।

विद्यार्थी के व्यवहार को बदलना है तो कुछ प्रयोग करने होंगे। प्रत्येक व्यक्ति में सोचने-समझने की शक्ति होती है और जब कुछ प्रयोग किए जाते हैं तब चेतना बहुत शीघ्र जागृत हो जाती है बुद्धि-परीक्षा के अनेक प्रयोग किए जाते हैं। उसी प्रकार आदत व परिवर्तन के लिए भी अनेक प्रयोग किए जा सकते हैं।

एक बार विद्यालय में एक विद्यार्थी को कहा–'तुम्हें अपना जन्म-दिवस मनाना है तो अच्छे कपड़े पहन कर आना, माता-पिता को प्रणाम करना, गुरुजनों को प्रणाम करना, सभी साथियों के साथ अच्छा व्यवहार करना।' बच्चा बहुत प्रसन्न हुआ। इस प्रयोग ने उसमें उत्साह भर डाला।

विद्यार्थी के मन में एक भय होता है, स्कूल के प्रति एक भावना होती है। जब उसे यह लगता है कि वहां मेरा स्वागत होता है, सम्मान होता है, मुझे प्रेम मिलता है, फिर उसके मन का भय भाग जाता है, स्कूल के साथ आत्मीय भाव जाग जाता है। इस प्रकार के व्यावहारिक प्रयोगों के द्वारा भाव-परिवर्तन किया जा सकता है।

जब भाव-परिवर्तन होता है तब व्यवहार अवश्य बदलता है। जैसा भाव होता है, वैसा व्यवहार बनता है। इसके बीच में विज्ञान की एक कड़ी और जुड़ती है कि भाव द्वारा रसायन पैदा होता है। रसायन भाव पैदा करता है, प्रत्येक व्यवहार के पीछे एक रसायन पैदा होता है। भाव का रसायन भिन्न होता है, क्रोध का और क्षमा का रसायन भिन्न होता है। जितने भाव हैं उतने ही रसायन है। भाव के द्वारा रसायन बदलता है और रसायन के द्वारा व्यवहार। बात जुड़ी हुई है। यह बात कुछ सूक्ष्म हो जाती है। व्यवहार-परिवर्तन का भी अभ्यास कराना चाहिए।

प्रयोग के बिना आदतें बदलती नहीं है। विद्यार्थियों को रचनात्मक विकल्प देने से उनमें परिवर्तन घटित होने लगता है। जब बच्चा मिट्टी खाता है, माताएं उसको वंशलोचन देती हैं। बच्चा वंशलोचन खाने लगता है और उसकी मिट्टी खाने की आदत छूट जाती है। रचनात्मक विकल्पों के द्वारा आदतें बदलती हैं।

एक बच्चे में चोरी की आदत बन गई। वह जब कभी कोई भी चीज चुरा लेता है। उसको कैसे बदलें? पहली बात है कि उसको चोरी के परिणामों का बोध कराया जाए। दूसरी बात है कि उसको प्रयोग सिखाए जाएं। वह चोरी का निर्णय लेता है चेतन माइन्ड से। दर्शन केन्द्र पर ध्यान कराने से उसकी अन्तर् प्रज्ञा जागृत होगी और तब चोरी की आदत छूट जाएगी। यह आन्तरिक प्रयोग है। चोरी

छुड़वाने के लिए व्यवहारिक प्रयोग भी कराने चाहिए। ऐसी चीज उसके सामने रखें कि वह उस चीज को चुराने के लिए लालयित हो जाए। जब वह चोरी करे तो उसे कहें कि चोरी करते हमने देखा है। दो- चार बार ऐसा करने से उसमें अपने आप एक मानसिक भाव पैदा होगा कि मैं चोरी करता हूं, इसलिए मुझे यह सब सुनना पड़ता है। तब उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी। यदि उसको टोका जाता है तो उसे और अधिक प्रेरणा मिलती है।

कुछ लोग मानते हैं कि दंड- प्रयोग से भाव- परिवर्तन होता है। दंड- प्रयोग अनुचित ही है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर उसकी एक सीमा है। सभी की योग्यताएं एक समान विकसित नहीं होतीं। सबकी अलग- अलग योग्यताएं होती हैं। इस स्थिति में दंड का भी अपना स्थान है। यदि किसी का मस्तिष्क पगला जाता है, अस्त- व्यस्त हो जाता है तो उसे दंड के भय से व्यवस्थित रखा जा सकता है और यदि उसके साथ मीठी बातें की जाएं तो वह हावी हो जाता है। दंड का प्रयोग एक सीमा तक उपयोगी है।

विद्यार्थी को निरन्तर दंड से गुजरना पड़े, यह भी अच्छा नहीं है और उसे दण्ड से सर्वथा मुक्त रखा जाए, यह भी अच्छा नहीं है। संतुलन होना चाहिए। यह निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए कि कब, किसे कितना दंड दिया जाए।

किसी विद्यार्थी में झूठ बोलने की आदत है। उसे उस आदत से मुक्त करना है तो पहले उसे झूठ के परिणामों का बोध कराना होगा। 'झूठ मत बोलो' यह कहने मात्र से कोई भी इस बुराई से बच नहीं सकता। सौ बार उपदेश देने पर भी वह झूठ बोलना नहीं छोड़ता। यदि उसे अनुप्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है तो झूठ बोलने की आदत में परिवर्तन होने लगता है। अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त, फ्रीक्वेन्सी का सिद्धान्त है, आवृत्तियों का सिद्धान्त है। बार बार उस बात को दोहराने से संस्कार का निर्माण होता है। यही परिवर्तन की प्रक्रिया है।

परिवर्तन के हेतु : आलंबन और अभ्यास

परिवर्तन की बात सबको अच्छी लगती है। प्रत्येक व्यक्ति विकास चाहता है। विकास का अर्थ है—परिवर्तन, जो है उससे आगे बढ़ना। विकास के लिए कुछ उपाय चाहिए। उपाय के बिना विकास नहीं होता। जो उपाय को प्राप्त हो जाता है वह लक्ष्य तक पहुंच जाता है। जो निरुपाय होता है, वह जहां का तहां बैठा रह जाता है। सत्य की खोज के लिए सबसे बड़ा साधन है उपाय की खोज। आचार्य और शिक्षक वह होता है जो उपायज्ञ होता है, उपाय को जानता है। विश्व में सबसे महत्त्व की बात है—आलंबन की खोज। बदलने के लिए आलंबन आवश्यक होता है।

विश्व साहित्य में सूक्तों का बहुत महत्त्व रहा है। अनेक सूक्त अनेक व्यक्तियों के लिए आलंबन बने और उनके सहारे अनेक लोगों का कायापलट हो गया। एक एक शब्द ने, एक एक वाक्य ने, एक एक श्लोक ने जीवन को बदल दिया। सूक्तों का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से हो रहा है। भरत चक्रवर्ती रोज आलंबन का प्रयोग करते थे। वे अनासक्त थे। चक्रवर्ती हो और अनासक्त रहे, यह बहुत बड़ी बात थी। पर आलंबन के सहारे यह बात भी घटित हो गई। वे राज्य करते, पर राज्य का मोह उनको छू नहीं पाया। यही कारण था कि वे महल में बैठे बैठे केवली बन गए। उनका एक आलंबन-सूत्र था। जब मंगलपाठक उन्हें प्रातः जागृत करते तब वे कहते—'वर्धते भयं, वर्धते भयं'—भय बढ़ रहा है, भय बढ़ रहा है। इसका तात्पर्यार्थ था कि राज्य बहुत बड़ी आसक्ति है। आसक्ति भय का कारण बनती है। इस एक सूक्त के आधार पर भरत चक्रवर्ती अनासक्त बने रहे।

संस्कृत काव्य 'किरातार्जुनीय' के प्रणेता भारवी संस्कृत साहित्य के महान् कवि थे। जीवन की प्रारंभिक अवस्था में वे विपथगामी थे। मां द्वारा प्रतिबुद्ध होकर वे सत्पथ पर आ गए। मृत्यु से पूर्व महाकवि ने अपनी पत्नी को एक श्लोक देते हुए कहा—'मेरे मरने के बाद यदि तुम्हें आर्थिक-संकट का सामना करना पड़े तो इस श्लोक को बेच

देना। इससे तुम्हें प्रचुर धन प्राप्त होगा।

महाकवि भारवी की मृत्यु हो गई। कुछ दिनों के पश्चात् कवि-पत्नी ने अर्थ का संकट महसूस किया। उसे श्लोक की बात याद आई।

उन्हीं दिनों एक धनिक वणिक-पुत्र ने एक बाजार लगाया। उसने यह घोषणा करवाई कि उस बाजार में जो वस्तु अनबिकी रह जायेगी, उसे वह स्वयं खरीद लेगा। कवि-पत्नी उस श्लोक को लेकर बाजार में गई और उसका मूल्य बीस सहस्र स्वर्णमुद्रा रखा। बाजार लगा। लोग आए। श्लोक का मूल्य देख स्तंभित रह गये। किसी ने श्लोक को खरीदने की उत्सुकता नहीं दिखाई।

बाजार का समय पूरा हुआ। वणिक्-पुत्र के कर्मचारी वहां आए और जो वस्तुएं नहीं बिकी थीं, उनकी सूची तैयार करने लगे। श्लोक भी सूची में आ गया। उसका मूल्य सुनकर सब अवाक् रह गए। वणिक् पुत्र स्वयं वहां आया और अपनी वचनबद्धता के कारण बीस हजार स्वर्णमुद्रायें देकर उस श्लोक को खरीद लिया। श्लोक की बहुमूल्यता को ध्यान में रखकर उसने उस श्लोक को बड़े बड़े स्वर्ण अक्षरों में लिखवाकर अपने शयनकक्ष में टंगवा दिया।

एक बार उसे व्यापार के निमित्त सिंहल देश जाना पड़ा। उस समय उसकी पत्नी सगर्भा थी। उसने व्यापार किया किन्तु षड्यंत्रकारियों के एक षड्यंत्र में फंस गया। उसे वहां चौदह वर्ष की सजा मिली।

चौदह वर्ष पूरे हुए। उसने अपने देश की ओर प्रस्थान किया। मन उमंगों से भरा था। वह अपने गांव पहुंचा। वह अपने घर में चुपके से प्रवेश कर पत्नी को आश्चर्यचकित कर देना चाहता था। रात का समय। वह घर पहुंचा। खुले वातायन से देखा कि उसकी पत्नी एक युवक के साथ एक ही पलंग पर सो रही है। पत्नी का हाथ उस युवक के कंधों पर था। यह देखते ही वह आगबबूला हो गया। तत्काल उसने तलवार निकाली। वह पत्नी और उस युवक को मृत्युधाम पहुंचाना चाहता था। वह कमरे में गया। सहसा उसकी दृष्टि स्वर्णाक्षरों में लिखित उस श्लोक पर पड़ी, जिसे उसने बीस हजार स्वर्णमुद्राओं में खरीदा था। उसने मन ही मन उस श्लोक को पढ़ा

सहसा विदधीत न क्रियां, अविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धा स्वयमेव संपदा।।

उसने अर्थ का चिन्तन किया—सहसा कोई कार्य मत करो। अविवेक परम आपदाओं का स्थान है। लक्ष्मी विवेक का ही वरण करती है।

वणिक्-पुत्र ने श्लोक के हार्द को समझा और पत्नी को जगाया। पत्नी उठी। अपने सामने पति को देख, वह आश्चर्यचकित रह गई। वह पति के चरणों में लुठ गई। पति ने अपने आपको संयत कर पूछा—यह युवक कौन है? पत्नी ने कहा—'यह आपका युवा पुत्र है। यह पन्द्रह वर्ष का हो गया है। आप इसे संभाले।' उसने पुत्र को जगाया। पुत्र जगा। उसने पूछा—'मां ! ये कौन हैं?' मां बोली— 'ये हैं तुम्हारे पिताजी ! इन्हें प्रणाम करो।' उसने अपने पिता का चरण-स्पर्श किया। पिता प्रफुल्लित हो गया।

श्लोक को बीस सहस्र स्वर्ण मुद्राओं में खरीदना सार्थक हो गया। यदि वह श्लोक नहीं होता तो आज भयंकर दुर्घटना हो जाती, पत्नी और पुत्र की मृत्यु हो जाती, सारा घर विनष्ट हो जाता। केवल एक श्लोक ने सर्वनाश से बचा लिया।

आलंबनों का बहुत महत्त्व होता है। विद्यालयों में अनेक आलंबन सूत्र लिखे मिलते हैं। पर आलंबन भी अभ्यास के बिना इतने उपयोगी नहीं होते।

आलंबन का अगला चरण है—अभ्यास। अभ्यास से क्षमता का विकास होता है, शक्ति बढ़ती है।

एक व्यक्ति के मन में आया कि वह सांड को अपने हाथों में उठाए। कहां भारी भरकम सांड और कहां व्यक्ति के निर्बल हाथ ! उसमें बुद्धि थी। उसने उपाय की खोज की। उसे समाधान मिल गया। अब उसने तत्काल उत्पन्न बछड़े को उठाना प्रारंभ किया। प्रतिदिन वह निश्चित समय पर उसे उठाता। वह क्रम चलता रहा। उसकी यह दिनचर्या बन गई। ज्यों ज्यों बछड़ा बढ़ता गया, उसकी क्षमता भी बढ़ती गई। दो तीन वर्ष तक अभ्यास चलता रहा। बछड़ा सांड बना और उसने सांड को उठाने में सफलता प्राप्त कर ली।

यह अभ्यास के द्वारा ही संभव हो सका। आदमी कितना ही बलिष्ठ क्यों न हो, वह सांड को नहीं उठा सकता। पर उपाय किया और आदमी ने सांड को उठा लिया।

अभ्यास के द्वारा ही संस्कार का निर्माण होता है। आचरण, व्यवहार और शब्द को बार बार दोहराने से वह संस्कार बन जाता है। अभ्यास के बिना संस्कार का निर्माण नहीं होता।

अभ्यास को परिपक्व करने के लिए तीन तत्त्व अपेक्षित हैं– दीर्घकालिता, निरंतरता और सत्कार-सेविता। अभ्यास को दीर्घकाल तक करते रहना चाहिए। दो-चार दिन करने से वह अभ्यास परिपक्व नहीं होता। दूसरी बात है कि अभ्यास निरंतर चलना चाहिए। दो दिन अभ्यास किया, चार दिन छोड़ दिया, फिर दस दिन किया, फिर बीस दिन छोड़ दिया–ऐसा करने से अभ्यास फलदायी नहीं होता। ठीक फ्रीक्वेन्सी के बिना उसमें शक्ति नहीं आती। इसके लिए निरंतरता अपेक्षित होती है। तीसरी बात है–सत्कार-सेविता। जो अभ्यास करना है उसके प्रति पूर्ण सत्कारभाव होना चाहिए, श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धापूर्वक किया जाने वाला अभ्यास सही और फलदायी होगा।

वृत्तियों और भावों के परिवर्तन के लिए जो उपाय या आलम्बन खोजे गये हैं, उनमें लक्ष्य तक पहुंचाने की क्षमता है। आलंबन कभी लक्ष्य तक नहीं पहुंचाता। वह माध्यम बनता है। पहुंचाता है व्यक्ति। वह आलंबन का समुचित सेवन करता है और पहुंच जाता है। यह सब व्यक्ति पर निर्भर करता है इसलिए उपाय और आलम्बन से भी अधिक शक्तिशाली साधन बन सकता है अभ्यास। अच्छे अच्छे सिद्धान्तों का अभ्यास नहीं होता है तो वे सिद्धान्त बहुत कारगर नहीं होते।

अनेक लोग अहिंसा में विश्वास करते हैं। वे अहिंसा का संकल्प लेते हैं। संकल्प लेना एक बात है और अहिंसा को सिद्ध करना दूसरी बात है। संकल्प कर लिया कि मैं अहिंसक रहूंगा, हिंसा नहीं करूंगा। इतने मात्र से हिंसा रुक नहीं जाती, अहिंसा पक नहीं जाती। अहिंसा को पकाने के लिए बहुत अभ्यास अपेक्षित होता है। बिना तेज आंच के कुछ पकता नहीं। अहिंसा के संकल्प को परिपक्व करने के लिए दो सिद्धान्त हैं–

१. सब जीव समान हैं।

२. हम सब एक हैं।

इनके लिए दो आलम्बन-सूत्र हैं–

'तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि'– वह तू ही है, जिसे तू मारना चाहता है।'

'सव्वभूयप्पभूयस्स'– इसका तात्पर्य है, हम सब एक हैं। इन आलंबन-सूत्रों का निरंतर अभ्यास किया जाए, इनको बार बार दोहराया जाए, चिन्तन और मनन किया जाए तो यह बात अनुभूति में उतरने लगती है। यदि कोई व्यक्ति एक वर्ष तक ऐसा करे तो उसका संकल्प पकने की स्थिति में आ जाता है। शब्द से चलते-चलते आदमी अनुभूति तक पहुंच जाता है। चलता है शब्द से, पहुंच जाता है अनुभूति पर।

पति परदेश गया हुआ था। पत्नी घर में थी। आठ-दस महीने बीत गए। कोई संवाद नहीं मिला। वह जानकारी करने के लिए तड़फती थी। अचानक एक दिन पत्र आया। पत्र पढ़कर उसने सारी स्थिति जान ली। इसमें माध्यम बना शब्द। वह स्थिति शब्द तक सीमित नहीं रही, अनुभूति में चली गई। शब्द के आधार पर सुख की अनुभूति भी की जा सकती है और दुःख की अनुभूति भी की जा सकती है।

आलम्बन शब्दात्मक हो सकते हैं, पर हम शब्द पर नहीं अटकेंगे। उसके माध्यम से अभ्यास करेंगे और चिन्तन-मनन करते करते अनुभूति तक चले जायेंगे। अनुभूति के स्तर पर जो घटित होता है वह हमारी परिवर्तन की भूमिका है। वहीं आदमी बदलता है। एक बार जिसको गहरे में अनुभव हो गया वह आदमी अवश्य बदलेगा। जो बात केवल रीजनिंग माइंड तक जाती है, कोन्शियस माइन्ड तक पहुंचती है वह बात अधिक स्थिर नहीं रह पाती। जो बात अनकोन्शियस माइन्ड तक पहुंच जाती है, वह छूटती नहीं, वह पकड़ ली जाती है। वहां पहुंचने के बाद आलम्बन छूट जाता है, शब्द छूट जाता है, केवल अर्थ बच जाता है। यह है शब्द से अर्थ तक की यात्रा।

हमारी चेतना के दो स्तर हैं। एक है ज्ञान का स्तर और दूसरा

है अनुभूति का स्तर। ज्ञान के स्तर पर आदमी जान लेता है। अनुभूति के स्तर पर आदमी बदलता है। जब तक आदमी ज्ञान के स्तर पर रहता है तब तक उसका आचार-व्यवहार बदलता नहीं है। क्योंकि उसमें अनुभूति नहीं है। यह अनुभूति की चेतना बहुत महत्वपूर्ण है। यह बुद्धि से आगे की चेतना है। इसको जगाना ही अभ्यास का काम है।

रूपान्तरण की प्रक्रिया के ये तीन घटक हैं– १. उपाय की खोज। २. आलंबन ३. अभ्यास। जहां ये तीनों मिलते हैं वहां परिवर्तन में कोई संदेह नहीं रहता। किसान यह चिन्ता नहीं करता कि बीज बो रहा हूं, उगेगा या नहीं? यदि साधन-सामग्री पूरी है तो बीज अवश्य उगेगा। उगने का पूरा क्रम मिलता है तो वह उग जाता है और नहीं मिलता है तो वह नहीं उगता। सत्य का नियम सार्वभौमिक होता है। यह युनिवर्सल लॉ है। इसमें कोई अन्तर नहीं आता।

उपाय, आलंबन और अभ्यास–ये तीनों जहां होते हैं, वहां परिवर्तन निश्चित है। इस प्रक्रिया से आदमी स्वयं ढल सकता है और दूसरों को ढाल सकता है। उपाय की खोज स्व-बुद्धि से भी हो सकती है और दूसरों के सहयोग से भी हो सकती है।

ईश्वर आलंबन नहीं है, वह मंजिल है। ईश्वर आदर्श है और आलंबन है भक्ति। हमें ईश्वर तक पहुंचना है। उसका माध्यम बनता है भक्ति। ईश्वर सहारा नहीं बनता, वह तो लक्ष्य है, जहां हमें पहुंचना है। आलंबन लक्ष्य नहीं बनता और लक्ष्य आलंबन नहीं बनता।

हम आलबंन का महत्त्व समझें और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में उसका सही उपयोग करें।

जीवन-विज्ञान और मस्तिष्क प्रशिक्षण

शिक्षा प्रणाली में बौद्धिक विकास पर बहुत बल दिया जा रहा है। विकास चाहे बौद्धिक हो या चारित्रिक, सबका आधार बनता है मस्तिष्क। हमारे स्वभाव, व्यवहार और बुद्धि का नियंत्रण मस्तिष्क से होता है और फिर उसकी कुछ सहयोगी क्रियाएं (रिफ्लेक्स एक्टीविटी) होती हैं तो रीढ़ की हड्डी आदि उसमें सहभागी बनते हैं। परन्तु सबका मूल आधार है मस्तिष्क। मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना बहुत आवश्यक है। जिस समाज व्यवस्था के साथ आदमी जीता है, उस समाज-व्यवस्था के अनुरूप मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा समाज-व्यवस्था और शिक्षा के बीच कोई संवादिता स्थापित नहीं की जा सकती। समाज व्यवस्था और शिक्षा के बीच कोई सामंजस्य या सामरस्य नहीं होता है तो शिक्षा की सार्थकता भी उतनी नहीं रहती। समाज-व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा का तंत्र होना चाहिए और शिक्षा के द्वारा समाज-व्यवस्था लाभान्वित होनी चाहिए। यह संबंध बहुत आवश्यक है। आज समाजवादी समाज-व्यवस्था और जनतंत्र चल रहा है। जो समाजवाद और जनतंत्र की अपेक्षाएं हैं, वे यदि शिक्षा के द्वारा पूरी नहीं होती हैं तो फिर दोनों के बीच कोई तालमेल नहीं बैठ सकता। शिक्षा का एक स्वतंत्र तंत्र बन जाता है और समाज-व्यवस्था कहीं अलग-थलग चली जाती है। ऐसी स्थिति में समाज के लिए शिक्षा नहीं होती और शिक्षा के लिए समाज नहीं होता। अतः यह सोचना आवश्यक है कि शिक्षा के द्वारा किस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण होगा और वह समाज के लिए कितना उपयोगी बन सकेगा।

जीवन-विज्ञान की प्रणाली संस्कार-परिवर्तन की प्रणाली है। यह बौद्धिक क्षमता और स्मृति की क्षमता को बढ़ाने वाली प्रणाली है, क्योंकि इसमें ग्रहण की अपेक्षा ग्रहण के मूल स्रोत पर अधिक ध्यान दिया गया है। व्यक्ति व्यक्ति में ग्रहणात्मक क्षमता का तारतम्य होता है। वह कितना रिसेप्टिव है, कितना ग्रहण करता है—इस पर विशेष

ध्यान दिया जाता है। पर सोचना यह है कि ग्रहण के जो मूल केन्द्र हैं मस्तिष्क के, जो सुप्त पड़े हैं, उन्हें कैसे जगाया जाए?

विद्यार्थी का व्यवहार, चरित्र और अनुशासन—इनको शिक्षा से अलग नहीं किया जा सकता। केवल बौद्धिक विकास को शिक्षा नहीं माना जा सकता। बौद्धिक विकास के साथ ये सारी बातें अविच्छिन्न और अविभक्त रूप में जुड़ी हुई हैं। जैसे जैसे विद्यार्थी में बौद्धिक विकास हो, वैसे वैसे उसमें चरित्र, व्यवहार और अनुशासन का विकास भी हो। उसके जीवन में इन गुणों के मूल्य प्रतिष्ठापित हों। मूल्यात्मकता और शिक्षा--दोनों को कभी अलग नहीं किया जा सकता। जो सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य हैं, उनको छोड़कर शिक्षा को भिन्न स्वतंत्र रूप में नहीं देखा जा सकता। इसलिए मस्तिष्क का वैसा प्रशिक्षण हो जिससे ये सारे मूल्य एक साथ संभाविता के रूप में विकसित हो सकें। इस दृष्टि से मस्तिष्क के सभी केन्द्रों को विकसित करना जरूरी है।

मस्तिष्क के दो पटल हैं। बायां पटल भाषा, तर्क, गणित आदि के लिए जिम्मेदार है और दायां पटल अन्तः प्रज्ञा, आध्यात्मिक चेतना, आन्तरिक प्रेरणा, स्वप्न आदि के लिए जिम्मेदार है। दोनों पटलों का संतुलित विकास न होने पर समस्याएं उत्पन्न होती हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बाएं पटल पर अधिक भार पड़ा हुआ है और दायां पटल सोया पड़ा है। दोनों का संतुलित विकास हो,तभी हम बौद्धिक विकास और चारित्रिक विकास—दोनों की कल्पना कर सकते हैं। यदि एक पटल का ही विकास हुआ, दूसरा सोया रहा तो समस्या कभी सुलझ नहीं पाएगी। आज शिक्षाशास्त्री, शिक्षक, शिक्षानीति और शिक्षा-प्रणाली के सामने एक प्रश्न है कि बौद्धिक विकास के साथ व्यक्तित्व का विकास क्यों नहीं हो रहा है ? समाज को ऐसा व्यक्तित्व चाहिए जो समाज की समस्या को सुलझा सके। मूलतः मस्तिष्क का असंतुलन बना हुआ है। जीवन विज्ञान की प्रणाली का आधारभूत तत्त्व यह है कि मस्तिष्क का संतुलन केवल पढ़ने से नहीं हो सकता, केवल बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता। बुद्धि का कार्य है विश्लेषण करना, निर्धारण और निश्चय करना। चरित्र का निर्माण करना बुद्धि का काम नहीं है।

मस्तिष्क में अनेक केन्द्र हैं। बुद्धि का केन्द्र भिन्न है और चरित्र निर्माण का केन्द्र भिन्न है। मस्तिष्क-विद्या के आधार पर मस्तिष्क के केन्द्रों का निर्धारण भी कर लिया गया है कि कौन सा केन्द्र किसके लिए उत्तरदायी है। व्यक्ति के चरित्र का केन्द्र है हाइपोथेलेमस। रीजनिंग माइंड बौद्धिक विकास या विवेक के लिए जिम्मेदार है।

आदमी जानता है कि यह कार्य बुरा है, कलह करना, संघर्ष करना बुरा है, फिर भी वह कार्य करता है। वह जानता है, परिवार में कलह नहीं होना चाहिए, कोई भी सदस्य लड़े नहीं फिर भी कलह होते हैं, लड़ाइयां होती हैं। व्यक्ति को इसमें रस आता है। यह है संवेग और विवेक का संघर्ष। यह रीजनिंग माइंड और इमोशन का संघर्ष है। रीजनिंग माइंड कहता है, ऐसा नहीं करना चाहिए, यह जीवन के लिए अच्छा नहीं है किन्तु इमोशन का दवाब पड़ता है आदमी वैसा कर लेता है, जानबूझ कर लेता है। यह बहुत बड़ा संघर्ष है।

शिक्षा का उद्देश्य है कि विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास हो। इसके लिए मस्तिष्क के उन सभी केन्द्रों को सक्रिय करना होगा जो उन उन गुणों के मूल स्रोत हैं । जब कुछ केन्द्र सोए रहते हैं और कुछ जागृत हो जाते हैं, तब सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। सर्वांगीण विकास में यह माना जाता है कि व्यक्ति का शरीर स्वस्थ हो, मन संतुलित हो, बुद्धि विकसित हो और भावना शुद्ध हो। इन चारों के संतुलित विकास को सर्वांगीण विकास कहा जा सकता है। एकांगी विकास में समस्याएं अधिक उभरती हैं। एकांगी विकास चाहे धर्म का हो या बुद्धि का हो, उससे समाज-व्यवस्था नहीं चल सकती। धर्म या अध्यात्म के एकांगी विकास से कोई गुफा में बैठकर साधना तो कर सकता है पर समाज-व्यवस्था को नहीं चला सकता। समाज के व्यवस्थित संचालन के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ अपेक्षित माने जाते हैं। धर्म और मोक्ष को नहीं छोड़ा जा सकता तो अर्थ और काम की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। समाज में सबकी अपेक्षा है। इनका संतुलन चाहिए। एकांगी धार्मिक विकास भी कभी कभी अंधविश्वास में बदल जाता है। चारों का समन्वित

विकास ही समाज को स्वस्थ रख सकता है।

मस्तिष्क के सभी उत्तरदायी केन्द्रों को एक साथ सक्रिय करना जरूरी है, जो वास्तविक मूल्यों के मूल स्रोत हैं। यही जीवन-विज्ञान की परिकल्पना का आधार है।

आज बौद्धिक विकास के लिए अलग से हमें चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आज के शैक्षणिक संस्थानों में बौद्धिक विकास के लिए बहुत कुछ किया जा रहा है और उसके सुपरिणाम भी आ रहे हैं। यह सोचा जा सकता है कि विद्यार्थी की ग्रहणशीलता को कैसे बढ़ाया जा सकता है। इसके अनेक प्रयोग जीवन-विज्ञान प्रणाली के साथ जुड़े हुए हैं। बल्गेरिया में 'सुपर लरनिंग' की प्रणाली चलती है। उसका वहां बहुत विकास हुआ है। डा. लाजरनाव ने इसका विकास किया और इस पद्धति के द्वारा शीघ्र-ग्रहण की पद्धति विकसित हुई। एक पूरा क्रम चलता था सजेस्टालॉजी का। इसके लिए एक केन्द्र स्थापित किया गया और विद्यार्थी में इतनी क्षमता पैदा कर दी कि वह वर्ष भर का कोर्स एक महीने में पूरा कर देता है। वह दिनभर में ५००-७०० शब्द कण्ठस्थ कर लेता है। जीवन-विज्ञान में भी इस बात पर ध्यान दिया गया कि विद्यार्थी में ग्रहण करने की क्षमता बढ़ाई जाए। जैन साहित्य में शिक्षा के बारे में अनेक सूत्र आए हैं। इसे दूसरे शब्दों में अवधान विद्या कहा जाता है। अवधान में क्षिप्र ग्रहण ही नहीं होता, बहुविध-ग्रहण भी होता है, सूक्ष्म-ग्रहण भी होता है। उपाध्याय यशोविजयजी अवधान विद्या के निपुण प्रयोक्ता थे। एक बार एक-सी सौ कटोरियां रख दी गईं। एक व्यक्ति उनको एक-एक कर बजाता और अवधानकार उन कटोरियों के शब्दों को ग्रहण करते। सौ कटोरियों का बजाना पूरा हुआ। फिर परीक्षा ली गई। बीच में से किसी भी कटोरी को बजाकर पूछा गया कि उसकी संख्या कौनसी है? आवाज के आधार पर संख्या बताई, वह सही निकली। यह है सूक्ष्म-ग्रहण की विधि। इसी के आधार पर आवाज का अलग अलग ग्रहण हो गया।

क्षिप्रग्राही, सूक्ष्मग्राही, बहुविधग्राही—ये सारे बौद्धिक विकास के परिचायक हैं। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है चरित्र के विकास की ओर

ध्यान देना। चरित्र-विकास के कुछ पहलू हैं। नैतिकता का विकास, व्यवहार-शुद्धि का विकास और अनुशासन का विकास–ये सारे चरित्र-विकास के तत्व हैं। चाहे सुपर लरनिंग की बात हो या जीवन विज्ञान की बात हो, केवल सैद्धांतिक पक्ष से काम नहीं चलता, प्रयोगात्मक पक्ष आवश्यक होता है।

मस्तिष्क के मूल स्रोतों को प्रशिक्षित करना प्रयोगात्मक पक्ष है। जो निष्क्रिय हैं उन्हें सक्रिय करना, जो सुप्त पड़े हैं उन्हें जागृत करना–यह प्रयोग से संबंधित है।

प्रयोग की पहली बात है–तनाव से मुक्ति। विद्यार्थी मे ग्रहणशीलता तब बढ़ेगी जब वह तनावमुक्त होगा। तनाव चाहे शारीरिक हो, मानसिक या भावनात्मक, तनाव के रहते क्षमता नहीं बढ़ सकती। इसलिए पहली बात है–तनावमुक्ति। सुपर लरनिंग में भी यही कराया जाता है। सत्य एक होता है। सत्य को कभी देश-काल में बांटा नहीं जा सकता। सत्य देशातीत और कालातीत होता है। यह त्रैकालिक है। हम जिसे कायोत्सर्ग कहते हैं, अन्यत्र उसे रिलेक्शेसन कहा जाता है। इससे शारीरिक तनाव विसर्जित हो जाता है। शरीर में कहीं तनाव नहीं रहता। मस्तिष्क तनाव रहित होता है तब ग्रहण की क्षनता बढ़ जाती है। जब विद्यार्थी तनाव से भरा रहता है तब वह कुछ नहीं पढ़ पाता। कायोत्सर्ग की अवस्था तनावमुक्ति की अवस्था है। उसमें पढ़ने की शक्ति बढ़ जती है। १०-२० शब्द याद करने वाला विद्यार्थी पचास शब्द करने लग जाता है।

दूसरा प्रयोग है–लयबद्ध श्वास। योग में प्राणायाम का बहुत महत्त्व रहा है। धर्म का यह अनिवार्य अंग है। प्रत्येक धर्म के साथ उपासना की पद्धति जुड़ी हुई है। वैष्णव लोग संध्या करते हैं। जैन लोग प्रतिक्रमण करते हैं। मुसलमान नमाज पढ़ते हैं। वैष्णवों में संध्या का क्रम आज भी प्रचलित है, पर वे संन्ध्या के वास्तविक मर्म को भूल गए हैं। संध्या के साथ शिथिलीकरण, प्राणायाम और रंगों का ध्यान प्रचलित था। नीला रंग, लाल रंग और श्वेत रंग–इन तीनों रंगों के साथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना थी। संध्या रह गई और तीनों रंगों के प्रयोग छूट गए। जैनों में भी प्रतिक्रमण रह गया और उसमें

श्वास के साथ पाठ करना, उच्चारण करना छूट गया।

प्राणायाम मस्तिष्कीय विकास के लिए अनिवार्य प्रक्रिया है। इससे मस्तिष्क के सुप्त और निष्क्रिय केन्द्र जागृत और सक्रिय होते हैं।

लयबद्ध श्वास से मस्तिष्क की सुप्त शक्तियां जागती हैं। सारा तंत्र उससे प्रभावित होता है। लयबद्ध चलना, बोलना, श्वास लेना—ये शक्ति-जागरण के प्रेरक तत्त्व हैं। जीवन विज्ञान की प्रणाली में इसको बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। सुपर लरनिंग पद्धति में भी इनका समावेश है।

जीवन विज्ञान की पद्धति के तीन मुख्य आधार हैं—कायोत्सर्ग, समवृत्ति-श्वास और अनुप्रेक्षा। पश्चिमी जगत् में जिसे सजेशन, ऑटो-सजेशन कहा जाता है, वह अनुप्रेक्षा का ही रूप है। चिकित्सा के क्षेत्र में पहले सजेशन का प्रयोग होता था। आजकल सम्मोहन का प्रयोग होने लगा है। आज शल्य-चिकित्सक एनेस्थेसिया का प्रयोग करते हैं। कुछेक शल्य-चिकित्सक सम्मोहन के द्वारा बड़े बड़े ऑपरेशन कर देते हैं। इससे न बीमार व्यक्ति को कोई कष्ट होता है और न डॉक्टर को। संदेश देना, सुझाव देना, अनुप्रेक्षा करना, भावना से भावित करना—ये सब भारतीय योगविद्या के अंग हैं। इनसे मस्तिष्क की शक्तियों को जगाया जा सकता है। इनके प्रयोग हुए हैं और सुपर लरनिंग वालों ने इनसे लाभ उठाया है।

पश्चिम जर्मनी का एक डॉक्टर सामुद्रिक यात्रा पर निकला। नब्बे दिन की यात्रा थी। उसने यात्रा के पहले दिन से ही ऑटो-सजेशन देना प्रारंभ कर दिया कि मुझे उस किनारे पर पहुंचना है। उसने इस वाक्य को जाप का-सा रूप दे दिया। अनेक कठिनाइयों के उपरांत भी वह सकुशल उस किनारे पर पहुंच गया। उसे अपनी पहुंच पर स्वयं को आश्चर्य हुआ।

हम जिस भावना से अपने मन को भावित करेंगे, वह घटना अवश्य घटित होगी। राजस्थानी भाषा में एक कहावत है—**रोतो रोतो जावै तो मरियेड़ा की खबर ले आवै**— जो रोते रोते जाएगा, वह मरे हुए की खबर लेकर ही आएगा जो संकल्प और दृढ़ निश्चय के साथ

चलेगा, वह शुभ संवाद लेकर आएगा। यह आंतरिक प्रक्रिया है। हमारे स्वभाव का निर्माण करने वाले न्यूक्लीड एसिड आदि जो रसायन हैं हम उन्हें सजेशन या संकल्प शक्ति के द्वारा बदल सकते हैं। जब रसायन बदलते हैं तब सारी क्रियाएं बदल जाती हैं।

अनुप्रेक्षा का मूल तत्त्व है—अभ्यास। इससे स्वभाव, चरित्र और व्यवहार को बदला जा सकता है। केवल सिद्धान्त को जानने मात्र से परिणाम नहीं आता। आज अहिंसा के सिद्धान्त को जानने वाले बहुत हैं, पर उसको जीने वाले बहुत कम हैं। इसीलिए अहिंसा की चर्चा करने वाले अधिक हिंसा और परिग्रह में लिप्त पाए जाते हैं। प्रत्येक धर्म का अभ्यास अपेक्षित होता है तभी वह जीवन में रूपान्तरण घटित करता है। अनुप्रेक्षा के वाक्य को पचास बार दोहराएं। दोहराते दोहराते शब्द गौण हो जाए और उसके अर्थ के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाए। ऐसा होने पर वह संस्कार हमारे में सक्रिय हो जाएगा। यदि यह अभ्यास तीन महीने तक निरन्तर चलता है तो वांछित परिणाम आ सकता है। यह तब केवल सिद्धान्त नहीं रहेगा, जीवन का व्यवहार बन जाएगा। प्रयोग के द्वारा ही सिद्धान्त को व्यावहारिक बनाया जा सकता है।

बौद्धिक विकास के लिए भी बच्चे शब्दों को दोहराते हैं। दस-बीस बार दोहराने से वे शब्द कंठस्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार संस्कार का निर्माण करने के लिए शब्दों को हजार बार दोहराना जरूरी है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—पुनरावृत्ति करना। इसे भावना कहा जाता है। आयुर्वेद में भावना का बहुत प्रचलन है। उसमें सौ भावनाओं से भावित, हजार भावनाओं से भावित आदि औषधियां होती हैं। उनके परिणाम में बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। जैसे जैसे औषधि भावित होती जाती है, सूक्ष्म होती जाती है, वैसे वैसे उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। यह सही है कि आवृत्तियां बढ़ेंगी, उतनी ही क्षमता बढ़ेगी। वह आवृत्ति एक फ्रीक्वेन्सी में चलती है तो क्षमता में संवर्धन होता है। यह अनुप्रेक्षा का ही प्रयोग है।

नैतिकता की समस्या

सत्य की खोज का एक प्रयोग चल रहा है। उसमें सारे सहभागी हो रहे हैं। दर्शन और चिंतन का काम केवल जानना नहीं है। वास्तव में उसका काम है जानना और करना। दोनों विभक्त नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में जानने के अर्थ में करना और करने के अर्थ में जानना आ जाता है। जितनी गत्यर्थक धातुएं हैं, वे सब ज्ञानार्थक भी हैं। 'गम्' धातु गति के अर्थ में है। गति एक क्रिया है। ज्ञान और क्रिया को कभी अलग नहीं किया जा सकता। सबसे बड़ी कठिनाई यह रही कि आदमी ने सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दे डाला और प्रयोग को भुला दिया। पीछे कोरा ज्ञान बच गया। वह लंगड़ा हो गया, एकाक्ष बन गया। दो पैर, दो हाथ, दो आंखें, दो कान, दो नथुने होते हैं तो काम ठीक होता है। बायां और दायां—ये दोनों शक्ति के स्रोत हैं। दाएं को छोड़कर बाएं की शक्ति नहीं होती और बाएं को छोड़कर दाएं की शक्ति नहीं होती।

कहा जाता है कि अनैतिकता समाज की सबसे बड़ी समस्या है। यह दूसरे नम्बर की समस्या है। मुख्य समस्या है—ज्ञान और क्रिया की दूरी,कथनी और करनी की दूरी।

एक साधु ने युवक से कहा—'तुम व्यसनों में फंसे हुए हो, शराब पीना और चोरी करना छोड़ दो। अन्यान्य व्यसन भी छोड़ दो।' युवक बोला—'छोड़ दूंगा।' संन्यासी ने जिस चीज को छोड़ने के लिए कहा, युवक स्वीकृति देता गया। संन्यासी को आश्चर्य हुआ। अंत में संन्यासी बोला—तुम झूठ बोलना छोड़ दो। युवक बोला—यह तो नहीं छोड़ सकता। संन्यासी ने कहा—यदि झूठ बोलना नहीं छोड़ सकते तो कुछ भी नहीं छोड़ सकते। तुम दूसरी चीजें छोड़ो या न छोड़ो, झूठ बोलना छोड़ दो।

मूल समस्या है, कथनी-करनी या ज्ञान और क्रिया की दूरी की समस्या। यदि यह दूरी न रहे तो नैतिकता का अवतरण अपने आप हो जाता है। आचार्य तुलसी ने जब अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन

किया तब कहा था—समाज में अनैतिकता है, यह मुझे गंभीर समस्या नहीं लगती। गंभीर बात यह है कि नैतिकता के प्रति आदमी की आस्था नहीं रही। वह यही कहता है, 'नैतिकता से काम नहीं चलता।' यह सबसे बड़ा खतरा आ गया है। आस्था जब डिग जाती है तब नैतिकता नहीं रह सकती। आस्था जब टिक जाती है, तब अनैतिकता नहीं रह सकती। आस्था के दृढ़ होने पर न नैतिकता का प्रश्न उठता है और न अनैतिकता का। आदमी सहज शुद्ध हो जाता है। किन्तु जब यह कहा जाने लगता है कि नैतिकता से काम नहीं चलता, ईमानदारी से काम नहीं चलता तब नैतिकता को जीवित करने का प्रयास ही समाप्त हो जाता है। इसलिए आस्था का निर्माण होना बहुत जरूरी है। समाज के सभी लोग चाहते हैं कि अनैतिकता मिटे, क्योंकि सबको उसकी कठिनाई महसूस होती है। अनैतिक आचरण करना कोई नहीं चाहता, पर करते सब हैं। सारा समाज अनैतिकता के इस चक्रव्यूह में फंसा हुआ है। वह चक्रव्यूह में फंस तो गया पर उसका भेदन करना नहीं जानता। वह कैसे बाहर निकले, यह एक प्रश्न है। जिस समाज में नैतिकता का विकास नहीं होता, वह समाज प्रगति नहीं कर सकता।

अनैतिकता से सारा राष्ट्र आक्रांत है। उसे कैसे मिटाया जाए? नैतिकता को जागृत करने के दो क्षेत्र हैं—धर्म का क्षेत्र और शिक्षा का क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों से विद्यार्थी में संस्कार आ सकते हैं। यहीं विद्यार्थी का निर्माण हो सकता है।

आज धर्म के क्षेत्र में अध्यात्म के बदले सम्प्रदाय अधिक हैं, नैतिकता और चरित्र की अपेक्षा उपासना की पद्धति पहले स्थान पर बैठी है। यदि इस समस्या को धर्म नहीं सुलझा सकता है तो हम उससे बड़ी आशा नहीं कर सकते। शिक्षा के क्षेत्र में यदि अभ्यास-क्रम से विद्यार्थी को कुछ मिल जाए तो कुछ समाधान हो सकता है पर शिक्षा जगत् की भी अपनी कठिनाई है। आज का शिक्षाशास्त्री, शिक्षक, शिक्षण संस्थाएं या अन्यान्य संस्थान जो शिक्षा की दिशा में काम कर रहे हैं, उनकी भी यही धारणा है कि विद्यार्थी को बौद्धिक विकास पूरा करा दिया जाए। टेक्नोलॉजी और इन्टलेक्ट को जितना

महत्त्व मिल रहा है उतना महत्त्व चरित्र-निर्माण या समाज-व्यवस्था के घटकों के निर्माण को नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि वे उस ओर ध्यान ही नहीं दे पा रहे हैं और उनके सामने इसका स्पष्ट चित्र भी नहीं है।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्री के.सी. पंत आचार्यश्री से मिले। शिक्षा के विषय में लंबी चर्चा चली। वे बोले, 'शिक्षा की बहुत बड़ी समस्या है। हम शिक्षा की प्रणाली को परिवर्तित करना चाहते हैं, लेकिन कोई मार्ग नहीं मिल रहा है। हमारे सामने स्पष्टता नहीं है। हम अनेक कोणों से सोच रहे हैं।' हमने उन्हें जीवन विज्ञान की पद्धति से परिचित कराया। वे बोले--'यह तो बिलकुल नई बात है। अभी तक हमारे सामने कोई नई बात आई ही नहीं। आपने जीवन विज्ञान की नई बात सुझाई है। मैं भी विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूं। मैं इस बात को बहुत गहराई से पकड़ रहा हूं। यह पद्धति हमारे लिए कार्यकर हो सकती है।'

शिक्षामंत्री के साथ शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा चली। जीवन विज्ञान की पद्धति में उन्हें शिक्षा की समस्या का समाधान दीखने लगा।

यह सब अनुभव कर रहे हैं कि सामाजिक व्यवस्थाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ तत्त्व अपेक्षित हैं। यह भी सब जानते हैं कि समाज की व्यवस्था और शिक्षा की व्यवस्था--इन दोनों में गहरा संबंध है। शिक्षा का काम है ऐसे व्यक्ति तैयार करना जो समाज-व्यवस्था के लिए प्रेरक बन सकें और उसको ठीक ढंग से चला सकें। जीवन विज्ञान की शिक्षा पद्धति में सैद्धान्तिकता कम है और अभ्यास अधिक है। उसका समाज-व्यवस्था से तालमेल हो सकता है।

आज तीनों विकास एक साथ अपेक्षित है--बौद्धिक विकास, शिल्प कौशल और भावात्मक विकास। कमी है भावात्मक विकास की। इसके अभाव में दोनों विकास बहुत साथ नहीं देते।

आचार्यश्री दिल्ली में थे। वहां डॉक्टर कोठारी, केन्द्रीय विज्ञान समिति के अध्यक्ष तथा प्रयोगशाला के अध्यक्ष आदि पांच-सात व्यक्ति

आए। चर्चा चली कि वैज्ञानिकता और बौद्धिकता का इतना विकास होने पर भी नैतिकता और चरित्र की समस्या क्यों है? आज का वैज्ञानिक छोटी-मोटी बात में उलझ जाता है और आत्महत्या जैसा जघन्य कार्य भी कर लेता है। यह शिक्षा के सामने बहुत बड़ा प्रश्न है। आखिर शिक्षा की निष्पत्ति क्या है? क्या आत्महत्या ही शिक्षा की निष्पत्ति है? सोचने-समझने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धिक विकास के हो जाने पर भी भावात्मक विकास के अभाव में जघन्यतम अपराध घटित हो सकता है। भावात्मक विकास का ज्वलंत प्रश्न सबके सामने है।

भारत के ऋषि-महर्षियों ने , आचार्यों ने व्यक्तित्व के रूपान्तरण के लिए, उच्च चेतना को जगाने के लिए अनेक उपाय खोजे थे। उन्होंने शरीर पर बहुत ध्यान दिया, क्योंकि शरीरतंत्र मुख्य तंत्र है। चेतना भी तो शरीर के भीतर ही है। शरीर के बिना चेतना की अभिव्यक्ति कहां हो सकती है? उन्होंने शरीर में ऐसे केन्द्र खोजे जहां व्यक्ति के बदलने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। ऐसे दो-चार नहीं, सैंकड़ों केन्द्र खोजे गए, जिनके द्वारा वृत्तियों का परिवर्तन किया जा सकता है, स्वभाव को बदला जा सकता है।

श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा और चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षा—ये तीनों रूपान्तरण घटित करने के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। सिद्धान्ततः हम इन्हें जानते हैं, पर इनका अभ्यास बहुत जरूरी है।

पति-पत्नी जा रहे थे। रास्ते में एक भिखारी मिला। उसने कुछ मांगा। पति ने जेब में हाथ डाला, पर जेब में कुछ था नहीं। इनमें इतनी उदारता थी कि कोई मांगे और कुछ न दिया जाए तो वे खिन्नता का अनुभव करते थे। उनके हाथ में एक थैला था। उसमें चांदी का कटोरा था। पति ने भिखारी को वह कटोरा दे दिया। पत्नी ने कहा—अरे, यह क्या कर डाला? भिखारी को चांदी का कटोरा दे दिया ! भिखारी को चांदी का कटोरा दे दिया! पति ने कहा—मैंने तो देखा ही नहीं कि कटोरा चांदी का है या पीतल का। चांदी का था तो अच्छी बात है। मैं यह अभ्यास कर रहा हूं कि मेरे हाथ से यदि कीमती चीज भी चली जाए तो कोई हैरानी, खिन्नता न आए। जो दे दिया,

वह दे दिया। मैं प्रयोग कर रहा हूं।

आज का विद्यार्थी केवल पढ़ता है। वह मनन नहीं करता। उसके पास मनन करने के लिए समय ही नहीं है। मनन के बिना आचरण की बात प्राप्त नहीं होती। पढ़ना, मनन करना, आचरण करना--ये तीनों अभ्यासात्मक हैं। इनकी समन्विति से ही धर्म या नैतिकता जीवन में अभिव्यक्ति पाती है।

जीवन विज्ञान की प्रणाली में जो ध्यान के आन्तरिक प्रयोग कराए जाते हैं, वे आदेश से होने वाले प्रयोग नहीं है। प्रारंभ में आदेश का पालन करना होता है, फिर वह प्रयोग अपना हो जाता है, आत्मिक हो जाता है। तब आदेश गौण और अन्तर का प्रभाव मुख्य हो जाता है। जब तक कोई भी पद्धति आत्मिक नहीं बन जाती, तब तक आदमी उसको करता तो है पर उसमें रस नहीं आता, उससे तादात्म्य स्थापित नहीं होता। तादात्म्य स्थापित हुए बिना घटना घटित नहीं होती।

ध्यान से व्यक्ति बदलता है। उसमें नैतिकता के प्रति आस्था का जागरण होता है और तब वह अनैतिकता की परिस्थिति उपस्थित होने पर भी अनैतिक आचरण नहीं करता।

प्रारंभ से ही यदि विद्यार्थी को नैतिक घटनाओं के संदर्भ में शिक्षा दी जाए तो नैतिकता के संस्कार उसमें प्रतिष्ठापित हो सकते हैं। फिर वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में अनैतिक नहीं बनता।

विधायक भाव

भोजन करते हैं, भूख मिटती है। पानी पीते हैं, प्यास बुझती है। हमें सुख का अनुभव होता है। सुख रोटी से मिला, पानी से मिला, और कहीं से आया या हमारे भीतर से निकला? इस प्रश्न की गहराई में जाने पर ज्ञात होगा कि भूख मिट जाने पर या प्यास बुझ जाने पर भी सुख नहीं मिलता। इसलिए रोटी खाने और सुख के मिलने में अनुबंध नहीं है। उनमें व्याप्ति नहीं है कि एक के होने पर दूसरा हो ही। पदार्थ के मिल जाने पर भी सुख नहीं होता और न मिलने पर भी सुख हो सकता है। पदार्थ और सुख में कोई व्याप्ति नहीं है, कोई निश्चित नियम नहीं है कि ऐसा होने पर ऐसा होता ही है और न होने पर नहीं होता। एक आदमी बहुत संपन्न है। पास में करोड़ों का धन है, पर स्वास्थ्य ठीक नहीं है। वह दुःख ही भोगता है। एक बहुत बड़े उद्योगपति के घर की महिला ने एक बार कहा–'महाराज ! मैं अत्यन्त दुःखी हूं।' यह सुनकर सबको आश्चर्य हुआ। पदार्थों के अंबार लगे हुए हैं, सुख-सुविधा के साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, फिर दुःख किस बात का ? उसने कहा–'पति चल बसे। लड़के संपत्ति के बंटवारे के लिए परस्पर में लड़ रहे हैं। घर में प्रतिदिन कलह और संघर्ष होता है। यही दुःख है।'

ऐसी घटनाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि पदार्थ का सुख के साथ अनुबंध नहीं है। सुख का संबंध हमारे संवेदन के साथ है।

मैं यह दार्शनिक चर्चा इसलिए कर रहा हूं कि विद्यार्थी का दृष्टिकोण विधायक बनना चाहिए। उसमें विधायक भावों का विकास होना चाहिए। उसमें विधायक दृष्टि का बीज-वपन होना चाहिए। एक दृष्टि से सुख-दुःख की यह परिभाषा की जा सकती है कि विधायक भाव का अर्थ है सुख और निषेधात्मक भाव का अर्थ है दुःख। भय, अहंकार आदि निषेधात्मक भाव हैं। ये सारे दुःख हैं। करुणा, प्रेम, सहृदयता आदि विधायक भाव हैं। ये सारे सुख हैं। वह समाज और

व्यक्ति विकासशील बनता है जिसे विधायक भाव उपलब्ध है। जिसमें निषेधात्मक भाव हैं, वह समाज या व्यक्ति कभी विकास नहीं कर सकता। उसमें सदा निराशा बनी रहती है। वैसे व्यक्ति उदासी और बेचैनी से ग्रस्त होते हैं। ये व्यक्ति प्रत्येक बात में कमी निकालेंगे, बुराई खोजेंगे।

कृष्ण ने युधिष्ठर और दुर्योधन से कहा कि द्वारका में अच्छे आदमी कितने हैं और बुरे आदमी कितने हैं, इनकी सूची बनाकर लाओ। कुछ दिन बीते। दोनों व्यक्ति कृष्ण के पास आए। दोनों के पन्ने खाली थे, उन पर कुछ भी लिखा हुआ नहीं था। दुर्योधन ने कहा–'महाराज ! मैं पूरे नगर में घूमा, पर मुझे एक भी अच्छा आदमी नहीं मिला, इसलिए मैं क्या लिखता?' युधिष्ठिर ने कहा– 'महाराज ! मेरी भी यही समस्या है। मै भी नगर में खूब घूमा, पर मुझे एक भी बुरा आदमी नहीं मिला। अब मैं क्या लिखता?'

दुर्योधन का उत्तर निषेधात्मक भाव का प्रतीक है और युधिष्ठिर का उत्तर विधायक भाव का प्रतीक है। विधायक दृष्टिकोण से संपन्न व्यक्ति को बुराई नहीं दीखती और निषेधात्मक दृष्टि वाले व्यक्ति को अच्छाई का पता नहीं चलता। जहां निषेधात्मक दृष्टि होती है वहां कलह, संघर्ष और लड़ाइयां पैदा होती है।

व्यक्ति के भाव ही अच्छाई और बुराई के लिए, सुख-दुःख के लिए जिम्मेवार हैं। यदि प्रारंभ से ही भावों को सही दिशा मिल जाए तो शायद सुख का सागर हिलोरें लेने लग जाए।

कबीर के पास एक युवक आकर बोला–'आप बड़े अनुभवी हैं। मुझे एक परामर्श दें कि मैं गृहस्थी में रहूं या संन्यासी बन जाऊं?' कबीर ने कहा–थोड़ी देर बैठो। मैं फिर बताऊंगा।

थोड़ा समय बीता। मध्यान्ह की बेला थी। कबीर ने अपनी पत्नी को बुलाया। पत्नी उपस्थित हुई। कबीर ने कहा–'दीपक जलाकर लाओ।' पत्नी तत्काल गई और दीपक जलाकर ले आई।

युवक ने सोचा, सूरज तप रहा है। सर्वत्र प्रकाश है। फिर दीपक का क्या प्रयोजन है? कैसा आदमी है कबीर? मुझे क्या मार्गदर्शन देगा?

कुछ समय बीता। कबीर युवक को साथ ले जंगल में गए। वहां नब्बे वर्ष का संन्यासी रहता था। कबीर संन्यासी की कुटिया में गए। संन्यासी को प्रणाम कर पूछा–आपकी अवस्था कितनी है? संन्यासी बोला–मैं ६० वर्ष का हूं। कबीर वहां से कुछ दूर गए और पुनः लौट कर संन्यासी से पूछा--महात्मन् ! आपकी अवस्था कितनी है? संन्यासी ने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी बार पुनः कबीर ने पूछा– आपकी उम्र कितनी है। संन्यासी ने उसी प्रेमभाव से उत्तर दिया। कबीर ने पांच-सात बार वही प्रश्न पूछा और संन्यासी ने उसी शांतभाव से उत्तर दिया। यदि कोई दूसरा होता तो शीतलप्रसाद का ज्वालाप्रसाद बन जाता।

कबीर ने युवक से पूछा–मिल गया उत्तर तुम्हारे प्रश्न का? युवक बोला–मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाया। कबीर बोले–यदि तुम गृहस्थी बसाना चाहो तो वैसे बनो कि दुपहरी में भी चिराग जलाने को कहने पर पत्नी ननुनच न करे और चिराग जलाकर रख दे। यदि तुम संन्यासी बनना चाहो तो ऐसे संन्यासी बनो कि क्रोध आए ही नहीं।

जब विधायक भाव की प्रबलता होती है तब जीवन में आनन्द ही आनन्द होता है, सुख ही सुख होता है। घटनाओं के साथ सुख-दुःख का संबंध नहीं है। भ्रान्ति के कारण हम मानते हैं कि प्रिय घटना से सुख होता है और अप्रिय घटना से दुःख होता है। भारतीय दर्शनों ने इस भ्रान्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया है। सुख-दुःख हमारी आन्तरिक अवस्था है। सुख-दुःख को पदार्थ के साथ जोड़ना बहुत बड़ी भ्रान्ति है।

अध्यात्म की खोज ने हमें बहुत बड़ा संबल दिया था, किन्तु आज वह शैक्षणिक जगत् का उपक्रम नहीं रहा, इसलिए दृष्टिकोण बदल गया। आज की यह बहुत बड़ी शिकायत है कि आदमी का दृष्टिकोण भौतिकवादी बन गया है और यही सारी समस्याओं का मूल है। प्रश्न है यह दृष्टिकोण क्यों बना? किसने बनाया? बनाने का दायित्व किस पर है? दायित्व दो पर ही है–धर्म और शिक्षा जगत् पर। तीसरे पर यह दायित्व नहीं आता। दृष्टिकोण का निर्माण या तो धर्म के आधार पर होता है या शिक्षा के आधार पर। दृष्टिकोण का निर्माण

या तो धर्मगुरु करते हैं या शिक्षक। भौतिकवादी दृष्टिकोण इसलिए बना कि आदमी ने सत्य की उपेक्षा की। यदि सत्य को समझने का और समझाने का प्रयत्न किया होता तो दृष्टिकोण की समस्या को सुलझाने में बड़ा सहयोग मिलता। आज जो समस्या नहीं सुलझ रही है उसका कारण है मिथ्या-दृष्टिकोण।

आज के धार्मिक का दृष्टिकोण भी गलत है, क्योंकि वह मान बैठा है कि सब कुछ धर्म से हो जाएगा। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। धर्म से सब कुछ कैसे होगा? धर्म से केवल मानसिक शांति मिल सकती है, आनन्द और सुख मिल सकता है। हमने मान लिया कि धर्म से पदार्थ मिलते हैं, सुख-सुविधाएं मिलती हैं। यह दृष्टिकोण की विपरीतता है। हमें मानना चाहिए कि धर्म की एक सीमा है और पदार्थ की भी एक सीमा है। पदार्थ से सुविधा मिलती है और धर्म से आनन्द मिलता है, आन्तरिक शांति मिलती है, मन शांत होता है। यदि यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो तो धर्म के प्रति आस्था बढ़ेगी, पदार्थ की मूर्च्छा घटेगी और भौतिकता की दौड़ कम होगी। यही विधायक भाव की निष्पत्ति है। शिक्षा जगत् यदि विद्यार्थियों को विधायक भावों के प्रति शिक्षित कर सके तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। यह कार्य प्रारंभ से ही करने का है। बच्चे विधायक भावों को जब पकड़ लेते हैं, तब उनके संस्कार अच्छे बनने में विलंब नहीं होता। विधायक भावों का विकास होने पर शिक्षा जगत् की अनेक समस्याएं स्वयं समाहित हो जाएंगी।

विद्यार्थी जीवन और ध्यान

ध्यान सत्य की खोज का उपाय है। एक वैज्ञानिक सत्य खोजता है, वह ध्यान के द्वारा ही खोजता है। जो ध्यान नहीं करता वह वैज्ञानिक नहीं होता। एकाग्रता के बिना सत्य को नहीं खोजा जा सकता। जब आइन्स्टीन से पूछा गया कि आपको सापेक्षवाद का सिद्धान्त कैसे मिला? उन्होंने कहा--मैं नहीं जानता। एक दिन मैं बगीचे में घूम रहा था और मुझे अचानक वह सिद्धान्त प्राप्त हो गया। बुद्धि के बल पर सत्य का अवतरण नहीं होता। सत्य का अवतरण होता है एकाग्रता के द्वारा।

हम पवनार गए। आचार्यश्री ने विनोबा से पूछा--आप ध्यान कब करते हैं? विनोबा बोले--आचार्यजी ! ऐसा मत पूछिए कि ध्यान कब करता हूं, ऐसा पूछिए कि ध्यान कब नहीं करता। विनोबा ध्यान में सदा मग्न रहते हैं। वे सत्यान्वेषी थे। क्षेत्र चाहे विज्ञान का हो, धर्म का हो या शिक्षा का, एकाग्रता या ध्यान बहुत आवश्यक है। बच्चों को एकाग्रता की शिक्षा और अभ्यास प्रारंभ से ही करा देना चाहिए। बच्चों में चंचलता अधिक होती है।
धीरे धीरे उसे एकाग्रता में ले जाना बहुत महत्वपूर्ण बात है।

ध्यान के पांच अंग हैं--वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। वितर्क का अर्थ है--चित्त को एक आलंबन पर टिका देना। ब्लैक बोर्ड पर एक शब्द लिख दिया और विद्यार्थी से कहा जाए कि इसी को पढ़ो, इसी को देखो, इसी पर ध्यान टिकाने का अभ्यास करो। उसका मन नाना आलंबनों पर जाता है। कभी वह गेट को देखता है, कभी खिड़की को और कभी आदमी को। वह कभी कहीं और कभी कहीं भटकता रहता है। एक मिनिट में दस बीस आलंबनों को बदल देता है। आलंबनों के साथ साथ चित्त की गति भी बदलती रहती है। इसलिए एक आलंबन पर मन को टिकाने का अभ्यास कराना बहुत जरूरी है। यह ध्यान की पहली अवस्था है।

ध्यान का दूसरा अंग है--'विचार'। इससे स्वरूप का बोध होने

लगता है। जब श्वास पर ध्यान किया जाएगा तब श्वास के स्वरूप का बोध होने लगेगा। श्वास क्या है, स्पष्ट हो जाएगा। जब तक चित्त को श्वास पर नहीं टिकाया जाता तब तक श्वास की जानकारी नहीं हो सकती। मैंने एक भाई से कहा—अपना ध्यान कपड़े पर टिकाओ। उसे ध्यान से देखो। कुछ समय तक वह कपड़े को देखता रहा, फिर उसने कहा—महाराज ! कपड़े को ध्यान से देखने पर कपड़े का एक एक तार मेरे सामने स्पष्ट हो गया और मुझे लगा कि कपड़ा सघन नहीं है, चलनी-मात्र है। हम किसी भी वस्तु को एकाग्रता से देखेंगे तो हमें उसका वास्तविक स्वरूप दीखने लग जाएगा। यह है 'विचार' की अवस्था।

ध्यान का तीसरा अंग है—'प्रीति'। जहां जानना होता है वहां राग-द्वेष नहीं होता। जहां राग-द्वेष होता है, वहां जानना नहीं होता। राग समाप्त होता है, तब प्रीति पैदा होती है। द्वेष समाप्त होता है, तब प्रीति पैदा होती है। जब पदार्थ के साथ भी प्रीति पैदा होती है तब उसके साथ सही सम्बन्ध होता हैं। शुद्ध मैत्री का संबंध ही प्रीति का संबंध है।

ध्यान का चौथा अंग है—'सुख'। यह हमारे चैतन्य की अवस्था है। यहां कोई बाधा नहीं होती। इन्द्रिय जगत् में वास्तविक सुख नहीं हो सकता। जब तक विषयासक्ति का अतिक्रमण नहीं होता, तब तक सुख नहीं होता। जब केवल सत्य के साथ जुड़ते हैं तब सुख पैदा होता है। यह वास्तविक सुख की अवस्था है। जब यह अवस्था व्यक्ति में जागती है तब व्यक्ति यथार्थ में शिक्षित होता है। उसी को शिक्षित व्यक्ति मानना चाहिए।

साक्षरता और शिक्षा एक बात नहीं है। दोनों अलग-अलग है।

एक संन्यासी आया। नगर में डेरा डाला। वह किसी से कोई भेंट नहीं लेता था। वह बहुत प्रसिद्ध हो गया। राजा ने उसकी गुणगाथा सुनी। उसने सोचा, क्या ऐसा संन्यासी हो सकता है, जो कुछ भी नहीं लेता। यह ढोंग है, माया है। राजा ने उसकी परीक्षा करनी चाही। राजा बहुमूल्य उपहार लेकर संन्यासी के पास गया। संन्यासी आंखें मूंद कर ध्यान कर रहा था। कुछ समय बाद आंखें

खोला। सामने भेंट में सजाए हुए थाल पड़े थे। संन्यासी को प्रणाम कर राजा बोला–महाराज ! मैं आपकी शरण में आया हूं। आप कृपाकर आशीर्वाद दें। मेरे राज्य का विस्तार हो, मेरा भण्डार बढ़े। मेरा परिवार बढ़े। मेरी यश और कीर्ति बढ़े। आप मेरी ये मांगे पूरी करें। मेरी भेंट आप स्वीकार करें। संन्यासी बोला–मैं तुम्हारी भेंट नहीं ले सकता, क्योंकि मैं केवल दाता की भेंट लेता हूं। भिखारी की नहीं। राजा बोला–आपने मुझे पहचाना नहीं, मैं राजा हूं, भिखारी नहीं हूं। संन्यासी ने कहा–अरे, अभी अभी तुम याचना कर रहे थे, मांग कर रहे थे। मांगने वाला दाता नहीं होता, भिखारी होता है।

साक्षरता से अक्षर-ज्ञान तो हो जाता है, पर शिक्षित होने के लिए और अधिक बातें अपेक्षित होती हैं।

जब सुख का साक्षात्कार होता है तब दुःख बहुत कम हो जाता है। प्रायः लोग सोचते हैं कि संसार में दुःख अधिक है। मैं इस भ्रान्ति को तोड़ना चाहता हूं। समस्याएं दो प्रकार की होती हैं–यथार्थ और काल्पनिक। रोटी, कपड़े और मकान की समस्याएं यथार्थ हैं। जीवन यापन की समस्या भी यथार्थ है। हम सोचें कि यथार्थ की समस्या का दुःख कितना है और काल्पनिक समस्या का दुःख कितना है। हम लेखा-जोखा करें तो ज्ञात होगा कि काल्पनिक समस्याएं अधिक होती हैं। हम दुःख का भार न ढोएं। जो दुःख का भार नहीं ढोता, वह समस्याओं से आक्रान्त नहीं होता।

समस्या के समाधान का उपाय है–श्रमनिष्ठा, उत्पादक श्रम। यदि विद्यार्थी में श्रमनिष्ठा और उत्पादक श्रम की मनोवृत्ति जागती है तो समस्या का समाधान होता है। यदि वह नहीं जागती है तो अनेक काल्पनिक समस्याएं और जुड़ जाती हैं। आदमी में उत्पादक श्रम के प्रति कम निष्ठा है और फिजूल कार्य के प्रति अधिक उत्साह है। यदि शिक्षा जगत् इस मनोवृत्ति को बदल कर उत्पादक मनोवृत्ति पैदा कर सके तो उसका बहुत बड़ा अवदान हो सकता है। इसको बदला जा सकता है एकाग्रता और विधायक भाव के द्वारा। इन्हीं के द्वारा यह चेतना पैदा की जा सकती है। यह सुख की चेतना है।

ध्यान का पांचवां अंग है–'एकाग्रता'। सुख के बाद एकाग्रता

की चेतना पैदा होती है। हम एकाग्रता से चले और एकाग्रता पर आकर स्थापित हो गए। हमने श्वास का आलम्बन लिया और उसके स्वरूप को जानने के लिए विचार प्रारंभ किया। फिर उसमें प्रीति पैदा हुई। वह अच्छा लगने लगा। फिर सुख मिला। जब सुख मिलने लगा तो उसमें एकाग्रता होने लगी। यह एक प्रक्रिया है, सत्य की खोज का मार्ग है। यदि विद्यार्थी में प्रारंभ से ही यह वृत्ति पैदा कर दी जाए तो उसका जीवन सफल हो सकता है।

बुद्धि और अनुभव का संतुलन

हम अपनी जीवन की धारा को दो तटों क बीच चला रहे हैं। एक है समस्या का तट और दूसरा है अपेक्षा का तट। अनेक समस्याएं हैं, जैसे–हिंसा, तनाव, अनैतिकता, मिथ्या दृष्टिकोण आदि। इनमें सबसे बड़ी समस्या है–मिथ्या दृष्टिकोण।

अब इनके लिए अहिंसा की अपेक्षा है। हिंसा बहुत बढ़ गई है। मनुष्य का दृष्टिकोण बन गया कि समस्या का समाधान हिंसा में है। वह हिंसा को चुनता है। उसने हिंसा को ऐसा हथियार बना लिया है कि कहीं पर भी उसका उपयोग किया जा सकता है। हिंसा सर्वत्र व्याप्त है। प्रत्येक क्षेत्र, फिर चाहे वह राज्य का हो, राजनीति का या शिक्षा का हो, में हिंसा का बोलबाला है। आज अहिंसा की अपेक्षा है। पर प्रश्न होता है कि वह आए कैसे? इसके लिए आवश्यकता है दृष्टिकोण को बदलने की, चक्षुष्मान् बनने की। आज आंख की परम आवश्यकता है। अन्यान्य वस्तुएं मिल सकती हैं पर आंख का मिलना, दृष्टि का मिलना अत्यन्त कठिन है। आजकल आंख का प्रत्यारोपण होने लगा है, चक्षुदान भी प्रचलित है इसीलिए आंख मिलने लगी है। आदमी को चक्षुष्मान् बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई है पर काम कठिन है।

एक बालक भीख मांग रहा था। वह अंधा था। एक युवक ने उसको चवन्नी दी और कहा–'बच्चे ! अभी से भीख मांगने लग गए? तुम अंधे हो। तुम्हारे आंखें नहीं हैं। तुम पैसा क्यों मांगते हो, आंखें क्यों नहीं मांग लेते?' उसने कहा–'भाई साहब ! आप ठीक कहते हैं जिसके पास जो हो, वही तो मांगता हूं। लोगों के पास पैसा है, आंखें नहीं हैं। फिर मैं उनसे आंखें कैसे मांगूं?'

तीर्थंकर का एक विशेषण है–चक्खुदयाणं–चक्षुदाता, चक्षु देने वाले। दृष्टिकोण का बदलना ही चक्षुष्मान् होना है। हिंसा, नैतिकता आदि सारी समस्याएं दृष्टिकोण के कारण उभर रही हैं। यदि दृष्टिकोण बदल जाए तो सारी समस्याओं का समाधान भी प्राप्त हो जाए।

जीवन विज्ञान की प्रक्रिया की मूल फलश्रुति है दृष्टिकोण का परिवर्तन। भावात्मक रूपान्तरण उसका मूल उद्देश्य है। गौण रूप से उससे शरीर भी स्वस्थ होता है, साइकोसोमेटिक बीमारियां दूर होती हैं, अन्य प्रासंगिक लाभ भी होते हैं।

दृष्टिकोण बदल सकता है, यह हमारी आस्था है। जीवन विज्ञान ने इस आस्था को जगाया है। यह आस्था भी दृढ़मूल हुई है कि आदत, स्वभाव और व्यवहार में भी परिवर्तन आ सकता है। प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक वृत्ति को बदलने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय निर्दिष्ट किए हैं। वे इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। खोजने वालों को वे प्राप्त होते हैं। अनेक व्यक्तियों ने वे प्रयोग किए, परिणाम अच्छे आए और वे प्रयोग उन-उन वृत्तियों के परिष्कार के लिए निर्दिष्ट हो गए। यह क्रम पहले शिक्षा के साथ नहीं जुड़ा था, सामान्य आदमी के साथ जुड़ा था। उसमें सफलता मिली। आज नैतिकता के लिए शिक्षा में परिवर्तन हो रहा है। हमने सोचा, मनन किया, भारत सरकार के शिक्षामंत्री तथा राजस्थान सरकार के शिक्षामंत्री से विचार विमर्श हुआ। हमारा विचार था कि पुस्तक पढ़ाने मात्र से नैतिक बन जाए, ऐसा संभव नहीं लगता। हमने प्रयोगों की चर्चा की, उनका एक्सपेरिमेंट हुआ, अच्छे परिणाम आए आज हम जीवन-विज्ञान की पद्धति को शिक्षा जगत् का दिशासूचक यंत्र मान सकते हैं।

जीवन विज्ञान के लिए एक शक्तिशाली वातावरण बना है। अच्छे अच्छे व्यक्ति इसके साथ जुड़े हैं। आत्मविश्वास बढ़ा है। कमजोर आंदमी कुछ नहीं कर सकता। शक्तिशाली ही कुछ कर सकता है। शक्ति चाहिए। कमजोर व्यक्ति केवल भीख मांग सकता है। शक्ति की पूजा के बिना कुछ नंहीं होता।

जीवन विज्ञान शिक्षा की पूरक कार्य-पद्धति है। शिक्षा में जो भावात्मक परिवर्तन तथा चरित्र-निर्माण का पक्ष गौण है, उसकी यह पूर्ति करती है। यह अभिमत पुस्तकों के आधार पर नहीं बना है, किन्तु अनुभव के आधार पर बना है। अनुभव बुद्धि से परे होता है—

अहंकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।

उदिते परमानन्दे, नाहं न त्वं न वै जगत्।।

अहंकार ने बुद्धि से कहा—अनुभव को मत जगाओ। उसके जाग जाने पर, न मैं रह पाऊंगा, न तुम रह पाओगी और न फिर संसार ही रह पाएगा।

बुद्धि से परे होता है अनुभव। अनुभव के जाग जाने पर अनैतिकता का जगत् नहीं बचता। आज सारे लोग यही चाहते हैं कि अनुभव सोया ही रहे, बुद्धि जागती रहे। सारा भार बुद्धि पर लादा हुआ है।

आज जितने अनपढ़ मूर्ख हैं, उनसे अधिक हैं पढ़े-लिखे मूर्ख। आवश्यकता है कि तराजू के दोनों पलड़ों में समान वजन रखा जाए। बुद्धि और अनुभव का संतुलन होना आवश्यक है। अनुभव को जगाना अत्यन्त जरूरी है।

जीवन विज्ञान : समाज के संदर्भ में

जीवन विज्ञान : मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रणाली

१. मस्तिष्क में असीम शक्ति है।

२. उसको जागृत किया जा सकता है।

३. शक्ति की जागृति तनाव और थकान के बिना की जा सकती है।

४. मस्तिष्क विद्या के अनुसार मस्तक का बायां भाग तर्क, गणित, भाषा और भौतिक विचार के लिए उत्तरदायी है। जीवन विज्ञान की शिक्षा प्रणाली इन दोनों के संतुलित विकास की पद्धति है।

५. अनुकंपी नाड़ीतंत्र (पेरासिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति आक्रामक, उद्दण्ड बनता है, बेचैनी का अनुभव करता है। परानुकंपी नाड़ीतंत्र (सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति डरपोक, दब्बू, हीनभावना से ग्रस्त होता है। यह स्नायविक असंतुलन है। जीवन विज्ञान इन दोनों के संतुलन की पद्धति है।

६. विवेक (रीजनिंग माइंड) और संवेग (इमोशन) में संघर्ष रहता है। विवेक कहता है कि यह काम गलत है, नहीं करना है। संवेग प्रबल होता है, उसे करा देता है। इसलिए ज्ञान और आचरण की दूरी बनती रहती है।

जीवन विज्ञान संवेग नियंत्रण की पद्धति है।

७. संवेद (सेंस एनर्जी) निरन्तर क्रियाशील रहते हैं, इससे शक्ति का बहुत अपव्यय होता है। अति सक्रियता से मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली पर दबाव पड़ता है। उससे स्वचालित नाड़ीतंत्र की प्रणाली पर दबाव पड़ता है।

जीवन-विज्ञान संवेद-नियंत्रण की पद्धति है।

८. प्रमस्तिष्क (सेरेब्रम) में शक्ति संचित है। अनुमस्तिष्क (सेरेवलम) उसका नियंत्रण करने वाला है। उसके द्वारा शक्ति प्रवाहित होकर सुषुम्ना-शीर्ष (मेडुलाआबलांगेटा) में जाती है। वहां से यह मेरु में जाती है। वहां से शरीर की सारी प्रक्रियाएं चालू होती हैं।

जीवन विज्ञान के द्वारा चेतना-प्रक्रिया (कांसस एक्टिविटी) को कम कर बिंब प्रक्रिया (रिप्लेक्स एक्टिविटी) को बढ़ाया जा सकता है,जिससे मस्तिष्क पर दबाव न पड़े।

९. पीनियल ग्लेंड की निष्क्रियता से नियन्त्रण की क्षमता कम हो जाती है। थाइमस ग्लेंड की निष्क्रियता से आनन्द की अनुभूति में कमी आ जाती है, बाहर की ओर झुकाव बढ़ जाता है।

१०. व्यवहार और आचार का मुख्य आधार भावधारा है। भाव दो भागों में विभक्त हैं—विधेयात्मक (पोजिटिव) और निषेधात्मक (नेगेटिव)। मनोविज्ञान के अनुसार इसका विश्लेषण इस प्रकार है—

विधेयात्मक

(आचार/व्यवहार)

भाव	**व्यक्तित्व**	**परिणाम**
विश्वास	उत्साही	सफलता
अभय	आशावादी	समादर
धैर्य	प्रसन्न	निश्चिंतता
सहिष्णुता	तनाव मुक्त	आन्तरिक शांति
मृदुता	विनयशील	मैत्री
श्रद्धा	सहृदय	स्वस्थता
निष्ठा	सहानुभूतिपूर्ण	सुख
सामंजस्य	वीरतापूर्ण	विकास
पारस्परिक समझ	अनुशासनबद्ध	साहस,प्रेम
आदि आदि	आदि आदि	आदि आदि

निषेधात्मक

(आचार/व्यवहार)

भाव	**व्यक्तित्व**	**परिणाम**
घृणा	दुर्बल	कुण्ठा
ईर्ष्या	कठोर	निराशा
संदेह	उद्दण्ड	लाचारी
लोभ	नीरस	उद्विग्नता
माया	चिड़चिड़ा	दुःख

दीनता/हीनता	रूखा	असफलता
छिद्रान्वेषण	आलसी	रुग्णता
अहं	डांवाडोल	दरिद्रता
आग्रह	धोखेबाज	थकावट
द्वेष	स्वार्थी	ऊब, असंतोष
आदि आदि	आदि आदि	आदि आदि

जीवन विज्ञान के द्वारा विधेयात्मक भाव का विकास कर निषेधात्मक भाव से मुक्ति पाई जा सकती है।

तनाव की अवस्था में ग्रहणशीलता और स्मृति प्रभावित होती है। जीवन विज्ञान तनाव-मुक्ति की प्रक्रिया है। इससे ग्रहण की क्षमता बढ़ती है, स्मृति का संवर्धन और बौद्धिक विकास होता है। विद्यार्थी को कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) की अवस्था में पढ़ाया जाए तो वह अपने विषय को शीघ्र ग्रहण कर सकता है। यह शिक्षा की 'सद्योग्रहण' पद्धति है। इसमें विद्यार्थी को तन्द्रा की अवस्था में ले जाना और अध्यापक द्वारा पाठ का लयबद्ध उच्चारण करना बहुत अपेक्षित है। वह उच्चारण सुझाव (सजेशन) के रूप में प्रस्तुत किया जाए। इसमें संदेश-पद्धति बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। उसके द्वारा चेतन और अचेतन मन के बीच संवाद स्थापित किया जा सकता है।

स्मृति-संवर्धन और ग्रहण-क्षमता का मौलिक आधार है—लयबद्ध श्वास। लयात्मक श्वास के द्वारा मस्तिष्क को पर्याप्त ऑक्सीजन मिल जाती है। जब मस्तिष्क कार्यरत होता है, तब उसे शरीर से तिगुने ऑक्सीजन की जरूरत होती है। लयबद्ध श्वास के द्वारा मानसिक और भावनात्मक तनाव कम होता है और ध्यान अपने भीतर की ओर आकर्षित होता है। पाठ पढ़ते समय श्वास का संयम (कुम्भक) हो तो वह अधिक प्रभावी बनता है।

जीवन विज्ञान मस्तिष्क प्रशिक्षण की पद्धति है। इसके तीन अंग हैं—

१. संवेद-नियंत्रण पद्धति २. संवेग-नियंत्रण पद्धति ३. विचार-नियंत्रण पद्धति।

इसके साध्य तत्त्व सात हैं—

१. श्वास नियंत्रण २. शरीर नियंत्रण ३. चैतन्य-केन्द्र नियंत्रण ४. स्वभाव परिवर्तन ५. आभामंडलीय निर्मलता ६. सामुदायिक चेतना का विकास ७. रचनात्मक शक्ति का विकास।

इसके साधक तत्त्व पांच हैं—

१. श्वास-प्रेक्षा २. शरीर-प्रेक्षा ३. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा ४. अनुप्रेक्षा (संदेश और अनुचिन्तन) ५. लेश्या—ध्यान (आभामंडल का ध्यान)।

अनुप्रेक्षा मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रक्रिया है। उसमें पुनरावृत्ति की जाती है। संस्कार निर्माण के लिए एक मास से तीन मास तक प्रतिदिन ५० से १०० आवृत्तियां की जाती हैं। शिक्षण के लिए ३२ से ५० आवृत्तियां करना आवश्यक है।

मस्तिष्क प्रशिक्षण प्रणाली के द्वारा मस्तिष्क और शरीर को प्रतिदिन नियन्त्रित (सूचना द्वारा सूचित या निर्दिष्ट) कर स्वास्थ्य को नियमित किया जा सकता है।

इसके द्वारा व्यवसाय, खेलकूद, अन्तरिक्ष यात्रा, समुद्र यात्रा, पर्वतारोहण आदि विभिन्न क्षेत्रों में कठिन प्रतीत होने वाले कार्य सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं। इस प्रणाली के द्वारा अन्तः प्रज्ञा (इन्ट्यूशन) को विकसित कर अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिये जा सकते हैं। व्यवसाय-प्रबन्धक, राजनयिक, प्रशासन तंत्र के अधिकारी, न्यायाधीश और कार्यपालिका के सदस्य—ये सभी इनसे लाभान्वित हो सकते हैं। पुलिस और सेना के लिए भी इसका बहुत मूल्य है। एकाग्रता, संकल्पशक्ति, नियन्त्रण की क्षमता और स्वभाव की पुनर्रचना—ये जीवन की उपलब्धियां हैं। जीवन विज्ञान के प्रयोग द्वारा इन्हें प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन विज्ञान : सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास का संकल्प

व्यक्ति समाज का एक अंग है। वह सामाजिक जीवन जीता है। समाज के संदर्भ में उसके जीवन का विकास होता है। व्यक्ति और समाज को सर्वथा अभिन्न नहीं किया जा सकता तो उन्हें सर्वथा भिन्न भी नहीं किया जा सकता। उनमें भेद का सूत्र है वैयक्तिकता। वह समाज में नहीं है। व्यक्ति की अपनी विशेषता है। उनमें अभेद का सूत्र है तंत्र। समाज में तंत्रों का एक समवाय है—अर्थतंत्र, राज्यतंत्र, व्यवसायतंत्र, शिक्षातंत्र, और धर्मतंत्र। जीवन संचालन के लिए अर्थ, राज्य और व्यवसाय का तंत्र काम कर रहा है। जीवन विकास के लिए शिक्षा और धर्म का तंत्र काम कर रहा है। वर्तमान में ये तंत्र संतुलित नहीं हैं। अर्थतंत्र के साथ अपरिग्रह या व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा जुड़ी हुई नहीं है इसलिए वह असंतुलित बना हुआ है। राज्यतंत्र केवल नियंत्रण के आधार पर चल रहा है, उसके साथ हृदय-परिवर्तन का प्रयोग जुड़ा हुआ नहीं है, इसलिए वह भी असंतुलित है। व्यवसाय तंत्र में प्रामाणिकता या नैतिकता का प्रयोग नहीं है इसलिए उसमें भी संतुलन नहीं है। शिक्षातंत्र एकांगी विकास की परिक्रमा कर रहा है। वह सर्वांगीण विकास की धुरी पर नहीं चल रहा है, इसलिए वह भी अपना संतुलन खो बैठा है। धर्मतंत्र में उपासना का स्थान मुख्य है और चरित्र का स्थान गौण है, इसलिए उसका संतुलन भी गड़बड़ाया हुआ है। इस असंतुलन की स्थिति में हम आत्मानुशासन और चरित्र-विकास की बात नहीं सोच सकते।

जीवन विज्ञान तंत्र में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न है। उसका एक पक्ष है अणुव्रत और दूसरा पक्ष है प्रेक्षाध्यान। अणुव्रत संकल्प-शक्ति का प्रयोग है। व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा का संकल्प अणुव्रत है और उस संकल्प की पुष्टि अभ्यास के द्वारा हो सकती है। वह अभ्यास पद्धति है प्रेक्षाध्यान।

क्रोध, लोभ, भय आदि की वृत्तियां बार बार जागती रहती हैं। उन्हें अभ्यास के द्वारा बार बार शांत किया जा सकता है। केवल सिद्धांत के द्वारा उनका उपशमन नहीं होता। किन्तु अभ्यास के द्वारा सिद्धान्त के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर उनका उपशमन किया जा सकता है। जीवन विज्ञान अभ्यास पद्धति है। इसमें आसन, प्राणायाम, श्वास-प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र-प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा आदि अनेक प्रयोग हैं। इनके द्वारा आंतरिक परिवर्तन किया जा सकता है। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए आंतरिक या रासायनिक परिवर्तन बहुत आवश्यक है।

जीवन विज्ञान का उद्देश्य क्या है? यह प्रश्न पूछा जाता है। इसका उद्देश्य है—

- पुस्तकीय ज्ञान के साथ अच्छे ढंग से जीवन जीने की कला सिखाना।
- अपने संवेगों पर नियंत्रण करने की पद्धति सिखाना।
- अभ्यास के द्वारा रासायनिक संतुलन स्थापित करना और रासायनिक परिवर्तन घटित करना।
- सामाजिक व्यवहार को निश्छल और मैत्रीपूर्ण बनाना।
- मादक वस्तुओं के सेवन से मुक्ति दिलाना।

आज शिक्षा-जगत् की कुछ समस्याएं है। जीवन विज्ञान उन समस्याओं का समाधान है। यही उसके अस्तित्व की अपेक्षा है। शिक्षा की समस्याएं इस प्रकार हैं—

- मस्तिष्क को ज्ञान-विकास के लिए अधिक प्रशिक्षित किया जा रहा है।
- पुस्तकीय शिक्षा, सिद्धांत, उपदेश और विचार—विनिमय से मस्तिष्क के चेतन भाग को प्रभावित किया जा रहा है। उसके अचेतन भाग को बहुत कम प्रभावित किया जा रहा है।
- चरित्र, आदत और संस्कार का संबन्ध मस्तिष्क के अचेतन भाग से अधिक है। उसे प्रभावित किए बिना समानता, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, संप्रदाय-निरपेक्षता और प्रामाणिकता जैसे मूल्यों को विकसित नहीं किया जा सकता। लोकतंत्र और समाजवादी समाज

की अपेक्षाओं को पूरा नहीं किया जा सकता।

▫स्वस्थ समाज रचना के लिये स्वस्थ व्यक्तित्व के निर्माण की अपेक्षा होती है। व्यक्तित्व की समग्रता केवल बौद्धिक विकास में नहीं है। उसके लिये शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास भी जरूरी है।

▫अंतःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव व्यक्तित्व का संतुलन बनाए रखते हैं। मानसिक और भावनात्मक असंतुलन के कारण उन ग्रन्थियों के स्राव असंतुलित हो जाते हैं। इस असंतुलन की स्थिति में स्वस्थ समाज की संरचना नहीं हो सकती। पाठ्यक्रम में मानसिक और भावनात्मक संतुलन के सूत्रों का समावेश नहीं है।

▫विद्यार्थी को जितना पढ़ाया जा रहा है उतना आवश्यक नहीं है और जो आवश्यक है वह पढ़ाया नहीं जा रहा है। आवश्यकता की कसौटी है जीवन से सम्बद्धता और समाज से प्रतिबद्धता। श्रम और चरित्र का जीवन से सीधा संबंध है। इतिहास भूगोल आदि का जीवन से सीधा संबंध नहीं है। एक छोटे विद्यार्थी को जितना इतिहास और भूगोल पढ़ाया जाता है उतना चरित्र या व्यक्तित्व निर्माण के बारे में नहीं पढ़ाया जाता। शिक्षक की विवशता है कि वह पाठ्यक्रम से हट कर पढ़ा नहीं सकता अथवा उसके पास अतिरिक्त समय नहीं है।

▫प्रत्येक व्यक्ति आनन्द या मस्ती का जीवन जीना चाहता है। शारीरिक श्रम से शारीरिक तनाव (फिजिकल टेन्सन), मानसिक श्रम से मानसिक तनाव (मेन्टल टेन्सन) और संवेग से भावनात्मक तनाव (इमोशनल टेन्सन) पैदा होते हैं। ये तनाव आनन्द या मस्ती को काफूर कर देते हैं। आनन्द अपने आपको भुलाए बिना, चिन्ता और चिन्तन से छुट्टी पाए बिना उपलब्ध नहीं हो सकता। इसी समस्या के आधार पर विद्यार्थियों में मादक वस्तुओं के सेवन की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यदि इसका विकल्प नहीं दिया गया तो मानसिक तनाव से ग्रस्त रहने वाला विद्यार्थी मादक वस्तुओं से बच सके, यह आज की स्थिति में कठिन लगता है।

▫सामाजिक जीवन व्यवहार में नैतिक मूल्यों के विपरीत प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं। एक विद्यार्थी विद्यालय में ईमानदारी का पाठ

पढता है और उसके बाहर बेईमानी की घटनाएं देखता है। इस स्थिति में शिक्षा के क्षेत्र में किए जाने वाले मूल्य-विकास के प्रयत्न कैसे सफल हो सकते हैं ?

परिस्थितियों, निमित्तों और समाधानों पर ध्यान दिया जा रहा है पर आन्तरिक परिवर्तन या हृदय-परिवर्तन की विधियों पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

इन समस्याओं का समाधान जीवन विज्ञान में खोजा जा सकता है।

पदार्थ-विकास के लिए विज्ञान को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता तो मानसिक शान्ति के लिए अध्यात्म को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारा जीवन केवल विज्ञान के आधार पर भी नहीं चल सकता तो केवल अध्यात्म के आधार पर भी नहीं चल सकता। उसमें विज्ञान और अध्यात्म–दोनों के लिए अवकाश है।

जीवन विज्ञान के पाठ्यक्रम में इन दोनों का समावेश किया गया है। दर्शन, अध्यात्म, योग विद्या और कर्मशास्त्र के साथ साथ शरीर विज्ञान, शरीर क्रिया विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विद्या-शाखाओं का संतुलन स्थापित किया गया है। इसके पाठ्यक्रम में सिद्धान्त और प्रयोग दोनों संतुलित हैं।

जीवन-विज्ञान में सिद्धान्त और प्रयोग दोनों संतुलित हैं, इसलिए इसके द्वारा नैतिक मूल्यों से विकास की संभावना की जा सकती है। प्रयोग-शून्य सिद्धान्त के द्वारा उनके विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वभाव निर्माण के लिए प्रयोग नितान्त आवश्यक है। अभ्यास के अभाव में आदमी जानता हुआ भी अनजान-सा बना रहता है। जीवन-विज्ञान में प्रयोग की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। इस दृष्टि से यह मूल्य-विकास का एक महत्त्वपूर्ण उपाय हो सकता है।

जीवन विज्ञान के संबंध में कुछ सामान्य जिज्ञासाएं की जाती हैं। उनका आकलन इस प्रकार है–

१. जीवन विज्ञान का आधार क्या है?

चरित्र-निर्माण, अहिंसा और सामाजिक न्याय के लिए आस्था या प्रेम का बिन्दु नितान्त आवश्यक है। राष्ट्र या अन्य किसी आदर्श

के प्रति समर्पण का भाव आस्था उत्पन्न करता है। जीवन विज्ञान की पद्धति में आन्तरिक मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न की जाती है और वही आस्था सहज भाव से चरित्र का निर्माण करती है, व्यवहार में परिवर्तन लाती है।

२. जीवन-विज्ञान का विद्यार्थी के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

जीवन-विज्ञान के प्रयोगों द्वारा एकाग्रता, स्मृति, धारणा-शक्ति और संकल्प-शक्ति का विकास होता है। ये मूल्यवान् हैं, पर इनसे अधिक मूल्यवान् है जीवन व्यवहार का परिवर्तन। सहिष्णुता, अनुशासन, दायित्व-बोध आदि का विकास बौद्धिक विकास के साथ अत्यन्त अपेक्षित है। हमारे शरीर में उत्पन्न होने वाले व्यवहार रसायनों से नियंत्रित होते हैं। आन्तरिक प्रयोगों के द्वारा रासायनिक संतुलन स्थापित किया जा सकता है। उससे व्यवहार में परिवर्तन हो जाता है। इस पद्धति से विद्यार्थी के व्यवहार का परिवर्तन देखा गया है।

३. अभिभावक और शिक्षक के बदले बिना क्या विद्यार्थी बदल पाएगा?

अणुव्रत आन्दोलन ने शिक्षा के क्षेत्र में त्रिकोणात्मक अभियान शुरू किया था। अभिभावक, शिक्षक और विद्यार्थी—यह एक त्रिकोण है। इसका एक साथ बदलना जरूरी है। पूरे समाज में चरित्र का विकास हो; तभी विद्यार्थी में चरित्र का विकास हो सकता है, इस अवधारणा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया का प्रारंभ कहां से हो, यह एक विमर्शनीय बिन्दु है। विद्यार्थी के संस्कार अपरिपक्व होते हैं, इसलिए उसमें चरित्र का बीज बोना जितना सरल है उतना परिपक्व वय वाले मनुष्य में नहीं होता। नैतिक-मूल्य, सम्प्रदाय-निरपेक्षता, लोकतन्त्रीय समाजवादी समाज व्यवस्था, जाति-भेद और रंग-भेद की भावना से मुक्ति, इन सब का विकास बचपन से ही जितनी सरलता से किया जा सकता है उतना बाद में नहीं किया जा सकता। इसलिए शिक्षा को केवल बौद्धिक विकासपरक नहीं, किन्तु भावनापरक भी होना चाहिए।

४. क्या शिक्षकों का जीवन विज्ञान की पद्धति से भावात्मक

लगाव हुआ है?

इस पद्धति में पहले अध्यापक प्रशिक्षण लेते हैं, फिर वे विद्यार्थियों को प्रयोग करवाते हैं। जिन अध्यापकों ने प्रशिक्षण लिया वे स्वयं अपने जीवन में लाभ का अनुभव करते हैं। इसके साथ उनकी रसात्मकता जुड़ी है। जिस प्रणाली के प्रति प्रशिक्षक की अभिरुचि नहीं जुड़ती, उसके अच्छे परिणाम नहीं आ सकते। जिससे अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य अच्छा होता है, मानसिक तनाव कम होता है, नशे की आदत से छुटकारा होता है,मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है उसके प्रति सहज ही लगाव उत्पन्न हो जाता है। पचास या साठ प्रतिशत अध्यापकों की रुचि और उतनी ही विद्यार्थियों में परिवर्तन की संभावना की जा सकती है।

जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज रचना का संकल्प

सामाजिक मूल्य विकसित होते हैं तो व्यक्ति सुख और शांति के साथ जीता है। सामाजिक मूल्य विघटित होते हैं तो अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसलिए चिन्ता होना स्वाभाविक है। पर चिन्ता यथार्थ की होनी चाहिए, उपायात्मक होनी चाहिए। केवल तार्किक चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

एक बार दो मूर्ख आपस में बात कर रहे थे। बात चल पड़ी तर्कशास्त्र की। तर्कशास्त्र का नियम बताया गया कि आदमी मरणधर्मा है, जो जन्म लेता है वह मरता है। यह एक निश्चित व्याप्ति है। दूसरा मूर्ख बोला–'यह बड़ी समस्या है। यदि सब आदमी मरने वाले हैं तो अन्त में मरेगा, उसे श्मशान कौन ले जाएगा?'

यह चिन्ता तो है, किन्तु अर्थहीन चिन्ता है, केवल तार्किक चिन्ता है। हमारी चिन्ता सार्थक चिन्ता होनी चाहिए, उपायात्मक होनी चाहिए। चिन्ता की निष्पत्ति उपाय में आए।

समाज के मूल्य अधिक नहीं है। केवल तीन मूल्य हैं–अहिंसा,सत्य और अपरिग्रह। समाज-रचना के ये तीन आधार हैं और ये तीन सामाजिक मूल्य हैं। अहिंसा के बिना समाज बनता नहीं। सत्य के बिना भी समाज नहीं बनता और अपरिग्रह के बिना भी समाज नहीं बनता।

हिंसक आदमी समाज बना नहीं पाता। समाज-रचना के इन तीन आधारभूत तत्त्वों और मूल्यों का विकास तथा उनके उपाय भी हमारे हाथ में हों, यह आवश्यक है। निरुपाय व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। वही व्यक्ति सफल होता है जिसके पास कुछ उपाय होता है। हम उपाय की मीमांसा करें, उससे पहले कुछ समझ भी लें।

पहला आधार है अहिंसा और अहिंसा का पहला तत्त्व है भावना का परिवर्तन। हिंसा के अनेक कारण हैं। उनमें एक बड़ा कारण है–भावना, एक प्रकार की धारणा का न्यास। आदमी आदमी को आदमी नहीं मान रहा है। यह एक भावना है और जब तक इस भावना

का परिवर्तन नहीं होता तब तक इस सामाजिक मूल्य का विकास नहीं हो सकता।

अध्यात्म के आचार्यों ने इस भावना-परिवर्तन के लिए कुछ शब्द दिए—'आत्मौपम्य' 'आत्मतुला, 'सब जीव समान', सब जीव अपनी आत्मा के जैसे हैं।' ये शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, गंभीर अर्थ की सूचना देने वाले हैं। इस भावना के अभाव में जातीय विद्वेष पनपा, सांप्रदायिक विद्वेष पनपा और राज्य का सीमागत विद्वेष पनपा। यदि यह भावना विकसित होती कि सब जीव समान हैं, मेरी आत्मा के जैसी ही है दूसरे की आत्मा, जैसी सुख-दुःख की अनुभूति मुझे होती है, वैसी ही सामने वाले व्यक्ति को होती है, तो यह जातीय और साम्प्रदायिक आक्रोश-विद्वेष कभी पनप नहीं पाता।

वर्तमान स्थिति क्या है? एक काला आदमी है और दूसरा गोरा आदमी है। आदमी आदमी है, केवल चमड़ी और रंग का अन्तर है। किन्तु गोरा आदमी अपने आपको श्रेष्ठ मान रहा है और काले आदमी को नीच मान रहा है। एक सवर्ण है, दूसरा असवर्ण है। सवर्ण अपने को श्रेष्ठ मान रहा है और असवर्ण को नीच मान रहा है। यह रंग के आधार पर विद्वेष, जाति के आधार पर विद्वेष, धारणाओं के आधार पर विद्वेष है। एक नाजी यहूदी को हीन मानता है और यहूदी नाजी को पागल कुत्ता जैसा मानता है। यह जातिगत विद्वेष है। विचारधारा के आधार पर भी यह विद्वेष पनपता है। एक संप्रदाय वाला दूसरे संप्रदाय वाले को हीन मान रहा है और अपने आपको उच्च प्रामाणित कर रहा है। ये सारे जो विद्वेष पनपे हैं, वे इस आधार पर पनपे हैं कि अहिंसा का जो एक सूत्र था मानव जाति की एकता का, उसे भुला दिया गया। जब हम सामाजिक मूल्यों के ह्रास की चर्चा करते हैं तो इस बात पर हमें फिर विचार करना होगा कि कहां भूल हुई है? उस भूल को पकड़ना होगा। जहां दर्द है वहां अंगुली टिके तब तो कोई उपचार की बात हो सकती है। दर्द कहीं और उपचार कहीं किया जाए तो बहुत सार्थकता नहीं होती।

'मनुष्य जाति एक है'—इस मूल्य की प्रतिष्ठा हमारी अनेक समस्याओं का एक समाधान है। कुछ लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न

किए। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न है महात्मा गांधी का। उन्होंने इन सारे विद्वेषों को मिटाने के लिए काफी प्रयत्न किए और अहिंसा के प्रति आस्था उत्पन्न करने का अथक प्रयास किया। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है, घटनाएं स्वयं प्रमाण हैं कि यह प्रयत्न एक सीमा तक सफल हुआ, व्यापक स्तर पर सफल नहीं हो सका। इसका कारण यही है कि जो प्रयत्न हुआ, वह बड़े लोगों में हुआ। अवस्था पक गई, विचार परिपक्व बन गए, धारणाएं पक गईं, उन लोगों में प्रयत्न हुआ। जब तक एक प्रभावशाली वातावरण रहा, परिस्थिति रही, तब तक तो लगा हिन्दुस्तानी मानस अहिंसा के निकट जा रहा है, किन्तु जैसे ही वह साया उठा, वह प्रभावी व्यक्तित्व सामने नहीं रहा और हिंसा देखते देखते उग्र बन गई। जैसे ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन हुआ, हिंसा ने क्या रूप लिया ? कितनी उग्रता सामने आई ? इस घटना से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंसा की शक्ति भी कमजोर नहीं है। अहिंसा को अगर हम शक्तिशाली मानें तो हिंसा की शक्ति भी कम नहीं है और घटनाओं के आधार पर, इतिहास के साक्ष्यों के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि समय समय पर हिंसा ने अपना जो रौद्र रूप दिखाया है, अहिंसा उतना सौम्य रूप नहीं दिखा पाई है। क्या हम पराजय स्वीकार कर लें कि समाज के लिए अहिंसा का कोई स्थायी या शाश्वत मूल्य नहीं है ? क्या हम हिंसा का वरण इसलिए करें कि हिंसा का मूल्य समाज के लिए ज्यादा कारगर है? यह भी स्वीकार नहीं किया जा रहा है। जहां जहां हिंसा की समस्या उग्र बनती है, तत्काल ध्यान अहिंसा की ओर जाता है। जहां विवाद उग्र होता है, वहां तत्काल ध्यान समझौते की ओर जाता है। सब कहते हैं कि हिंसा की समस्या सुलझनी चाहिए, विवादों का अन्त आना चाहिए।

पंजाब की समस्या उग्र बनी। पूरे राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित हो गया कि आतंकवाद समाप्त होना चाहिए, हिंसा की उग्रता अब नहीं चलनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आदमी हिंसा चाहता नहीं, करता है। बस चाहता अहिंसा है, चाहता शांति है किन्तु एक उन्माद आता है और उन्माद में वह हिंसा कर डालता है, शांति भंग हो जाती

है।

दो स्थितियां हैं। एक है उन्माद की स्थिति और दूसरी है शांत स्थिति। शांत स्थिति में आदमी अहिंसक मूल्य को महत्त्व देता है किन्तु उन्माद जब आता है, उस स्थिति में वह हिंसा कर लेता है।

हिंसा स्वाभाविक या नैसर्गिक मांग नहीं है। वह एक अस्वाभाविक परिस्थिति है। हम कुछ कारणों से प्रभावित होकर उस दिशा में चले जाते हैं। यह बात समझ में आनी चाहिए कि समाज का मूल्य अहिंसा ही हो सकता है और इसी आधार पर समाज बना है। वह नहीं होता तो समाज बनता ही नहीं। एक आदमी दूसरे आदमी को खाने और काटने को तैयार रहता। किन्तु सबसे पहला समझौता यही हुआ कि भाई! तुम भी अपनी सीमा में रहो, मैं भी अपनी सीमा में रहूं और हम दोनों साथ साथ जीएं, समाज बन कर जीएं।

आदमी अहिंसा की बात को भूल-सा गया है। इस स्थिति में उपाय की बात सोचनी चाहिए कि किस उपाय से इस अहिंसा के मूल्य को पुनः प्रस्थापित करें? इस पर जब चिंतन करते हैं तो ऐसा लगता है कि एक और प्रयोग किया जाए। वह प्रयोग यह हो कि बचपन से ही अहिंसा की आस्था उत्पन्न की जाए। जब हिंसा की आस्था उत्पन्न हो जाती है, यह धारण बन जाती है कि हिंसा के बिना काम नहीं चलता, फिर उसे बदलना बहुत जटिल हो जाता है। बचपन के संस्कार इतने प्रभावी होते हैं कि बाद में आने वाले संस्कार उनके सामने टिक नहीं पाते। एक प्रयोग करने की जरूरत है और वह प्रयोग होगा बचपन से अहिंसा की आस्था का निर्माण।

जीवन विज्ञान की प्रकल्पना इसी चिंतन का एक परिणाम है। जिन सामाजिक मूल्यों को हम समाज में देखना चाहते हैं, विकसित करना चाहते हैं, उन सामाजिक मूल्यों को बचपन से ही प्रतिफलित करना चाहिए, उनके प्रति आस्था पैदा करनी चाहिए।

आज सबसे बड़ा संकट है आस्था का। श्रद्धा इतनी विचलित है कि आदमी कहीं भी टिक नहीं पा रहा है। एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा कदम आगे बढ़ रहा है। कहीं पैर जमाकर खड़े होकर आदमी कुछ करना नहीं चाहता । मैंने एक

आदमी को देखा है कि बचपन से ही उसक मन म साधना का बात आई और वह साधना करने चला। किन्तु चंचलता इतनी कि किसी भी बात पर जमा नहीं। आज एक पद्धति को अपनाया तो तीसरे दिन दूसरी पद्धति को। और सातवें दिन तीसरी पद्धति को। बदलता गया, बदलता गया। आज यह स्थिति है कि वह जहां था, लगभग वहीं है,बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। कहीं न कहीं आदमी को अपना पैर जमाकर खड़ा होना होता है और जब वह बिन्दु प्राप्त नहीं होता है तो कहीं भी हम कुछ कर नहीं पाते। हमें आस्था को दृढ़ बनाना है और उसके लिए भावना का परिवर्तन आवश्यक है। शिक्षा के साथ इस संस्कार को पुष्ट किया जाए कि 'सब जीव समान हैं।' यह बात भी कुछ अमूर्त्त बन जाती है। मूर्त्त बात, सगुण भाषा ज्यादा प्रभावशाली बनती है। अमूर्त्त बात कभी कभी कमजोर बन जाती है तो फिर इस आधार पर एक सिद्धांत विकसित किया कि जीवों की बात हम छोड़ दें पर कम से कम जो हमारे सामने हैं, हमारे जैसे हैं, उसके प्रति तो यह भाव विकसित करें कि मानव जाति एक है। दूसरा मनुष्य वैसा ही है जैसा मैं हूं और जैसा मैं हूं, वैसा ही दूसरा मनुष्य है। इतनी आस्था उत्पन्न हो जाए तो मानदीय व्यवहार बदल जाए और यह बचपन में ज्यादा संभव है, क्योंकि उस अवस्था तक दूसरे संस्कार हावी नहीं होते, प्रभावी नहीं बनते।

जैसा प्रारंभिक पाठ मिलेगा, विद्यार्थी उसे जल्दी पकड़ेगा। समाजशास्त्र के अनुसार जिन मालिकों और दासों में मानवीय स्तर पर चिन्तन हुआ और संबंध स्थापित हुए, उनका व्यवहार बदल गया। एक बड़ी क्रूर कहानी रही है इतिहास की--मालिकों ने अपने दासों पर इतने क्रूर अत्याचार किए हैं कि उनको मानव नहीं माना जा सकता। मालिक मानो मनुष्य हो और दास जैसे उसका पशु हो। पशु के प्रति भी उतने अत्याचार या क्रूर व्यवहार नहीं किए जाते किन्तु मनुष्य के प्रति किए गए हैं और इतिहास की हजारों हजारों घटनाएं इस तथ्य की साक्षी दे रही हैं।

आज भी देखते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। आदमी कुछ अर्थों में आदमी से ज्यादा पशु को मूल्य देता है, क्योंकि उसकी उपयोगिता

मानता है। वहां उसका अपना स्वार्थ है। एक घोड़ा सुविधा के साथ रहता है। उसका स्थान है वातानुकूलित गृह। उसकी सेवा में अनेक नौकर हैं। घोड़े पर जितना खर्च हो रहा है उतना उसके परिचारकों पर नहीं हो रहा है, क्योंकि घोड़ा ज्यादा उपयोगी है। एक रेस का घोड़ा लाखों रुपए या लाखों डालर पैदा करा देता है, जबकि आदमी इसका एक तुच्छ अंश भी लाभ नहीं देता। आदमी की सारी दृष्टि उपयोगिता पर, स्वार्थ और लाभांश पर टिकी हुई है, मानवीय स्तर पर टिकी हुई नहीं है।

जिन लोगों ने इस सचाई का अनुभव किया उनका व्यवहार बदल गया। मानवीय व्यवहार के लिए सबसे प्रथम बात है कि मनुष्य जाति की एकता में आस्था उत्पन्न हो। ऐसा होने पर क्रूर व्यवहार करना कठिन हो जाता है।

अहिंसा का दूसरा सूत्र है--प्रेम, मैत्री का विकास। हिंसा का मूल है घृणा। जब तक घृणा पैदा नहीं होती, आदमी हिंसा कर नहीं सकता। लड़ना होता है, युद्ध करना होता है तो सामने वाले के प्रति घृणा पैदा हो जाती है। यदि यहूदी जाति के प्रति घृणा पैदा नहीं की जाती तो लाखों यहूदियों को बिना मौत नहीं मारा जाता। पहले घृणा पैदा की जाती है और फिर हिंसा की जाती है। आज भी जितना आतंकवाद चल रहा है, वह सारा घृणा के आधार पर चल रहा है। आतंकवाद का प्रशिक्षण मिलता है। प्रशिक्षण में सामने वाली जाति के प्रति इतनी घृणा भर दी जाती है कि फिर उसे मारने में कोई संकोच नहीं होता। घृणा हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। उसे बदलना और उसके स्थान पर प्रेम उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेम उत्पन्न होने पर कोई किसी को सता नहीं सकता।

एक चोर या डाकू अपनी पत्नी के गहने नहीं चुराता, घरवालों को कभी नहीं लूटता। मिलावट करने वाला व्यापारी बाजार में जाता है तो क्या वह अपने परिवार के लिए मिलावटी दूध या मिलावटी सामान लाना चाहता है? वह अपने घर में अच्छा लाना चाहेगा। अपनी पत्नी को व अपने बच्चों को खराब चीज खिलाना नहीं चाहेगा। वह दूसरों को मिलावटी माल बेचता है और स्वयं शुद्ध लेना चाहता है।

इसका कारण यह है कि उसका परिवार के प्रति प्रेम है। जहां प्रेम है वहां क्रूर व्यवहार हो नहीं सकता।

यदि चोर व डाकू क्रूर ही होते तो उनका परिवार बनता ही नहीं। किन्तु वे अपने परिवार के प्रति बड़े दयालु, बड़े प्रेमालु होते हैं। प्रेम उत्पन्न करना, प्रेम का विकास करना, मैत्री का विकास करना यह अहिंसा का दूसरा तत्त्व है।

प्रेम की बहुत महिमा गाई है हमारे संतों ने। कबीर ने यहां तक लिखा–

पोथा पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।

आज समस्या यही है कि शिक्षा के साथ संवेदनशीलनता, प्रेम, मैत्री या करुणा के विकास की बात बहुत जुड़ी हुई नहीं है। मैं यह मानता हूं कि केवल शिक्षा या पढ़ाई से ही यह बात आने वाली नहीं है। प्रेम के जो केन्द्र हैं शरीर में, जब तक उनको नहीं छुआ जाता, करुणा के केन्द्रों को नहीं छुआ जाता, तब तक वे विकसित नहीं होते।

इस विषय में यह बात स्पष्ट करना जरूरी है कि हमारे शरीर की रचना बहुत जटिल है, हमारे मस्तिष्क की रचना भी जटिल है। उसे समझे बिना संवेदनशीलता का विकास नहीं हो सकता। घृणा का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क में है और प्रेम का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क में है। दोनों विद्यमान हैं। अब जिसको बल मिलेगा वह पुष्ट हो जाएगा। जिसको बल नहीं मिलेगा वह कमजोर हो जाएगा।

दो लड़के हैं। जिस लड़के को प्यार मिलेगा, वह अच्छा बन जाएगा और जिसको तिरस्कार मिलेगा, वह सूख जाएगा। जिस पौधे को प्यार मिलेगा, वह पल्लवित हो जाएगा। जिसे प्यार नहीं मिलेगा, पानी नहीं मिलेगा, जीवन नहीं मिलेगा, वह पौधा सूख जाएगा।

स्मृति पर खोज करने वाले वैज्ञानिक बतलाते हैं कि हमारे स्मृति के रसायन बड़े अद्‌भुत हैं। एक रसायन को आप हजार बार बल दें वह पुष्ट हो जाएगा और वह बात २०-३० वर्ष तक बराबर आपकी स्मृति में बनी रहेगी। यदि उसको बल नहीं मिलेगा तो वह

रसायन कमजोर पड़ता चला जाएगा और विस्मृति की मात्रा बढ़ती चली जाएगी।

प्रश्न है आवृत्ति का, प्रश्न है पल्लवन का और प्रश्न है उसे पोषण मिलने का। हम उन केन्द्रों को यदि पल्लवित करते हैं तो अवश्य ही घृणा की भावना कम होती है और प्रेम का विकास होता है।

प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है—ज्योति केन्द्र प्रेक्षा। यदि ज्योति-केन्द्र पर हम ध्यान करेंगे और बार बार उसको देखेंगे, बार बार उसका अनुभव करेंगे तो प्रेम, मैत्री और संवेदनशीलता की भावना बढ़ेगी। यदि हमारा ध्यान ज्यादा पेट की ओर जाएगा, नाभि के आस-पास परिक्रमा करेगा तो क्रूरता की भावना, उद्दण्डता और घृणा की भावना को बल मिलता रहेगा।

आचार्य भिक्षु ने बहुत महत्वपूर्ण बात लिखी। उन्होंने कहा—एक व्यक्ति ने दो बीज बोए—एक आम का और दूसरा धतूरे का। दोनों पास-पास में थे। उसने अपने लड़के को कहा कि पौधों को सींचना है। लड़का भोला था, नासमझ था। वह धतूरे के बीज पर बहुत पानी डालता, उसकी रखवाली करता, खूब सार-संभाल करता और जो आम का पौधा था उसे न पूरा पानी देता, न रखवाली करता, पूरा ध्यान भी नहीं देता। परिणाम यह हुआ कि आम का पौधा मुरझा गया और धतूरे का पौधा चमक उठा।

यह निर्णय हमें करना है कि हम धतूरे के पौधे को ज्यादा पानी दे रहे हैं या आम के पौधे को ? हम किसकी ज्यादा सार-संभाल कर रहे हैं ? जिस पर अधिक ध्यान देंगे, वह ज्यादा विकसित होगा और जिस पर कम ध्यान देंगे, वह सिकुड़ जाएगा।

प्रश्न है कि हमारा ध्यान आज कहां है? ध्यान प्रेम के पौधे पर है या घृणा के पौधे पर ? हम पानी कहां सींच रहे हैं? हमारे लिए यह बहुत ज्वलंत प्रश्न है। पानी तो सींच रहे हैं घृणा के पौधे पर और हम चाहते हैं कि अमन से रहें, शांति से रहें, कहीं आतंक न हो, कहीं हिंसा न हो, लूट-खसोट न हो, अपराध न हो। हमारी कल्पना तो चलती है रामराज्य की और कार्य चलता है रावणराज्य का। संगति कैसे हो? इन विसंगतियों में जीते हुए हम मूल्यों का

विकास नहीं कर सकते। यदि सचमुच हमारी आस्था है मूल्यों का विकास करना, सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना तो हमें पानी वहीं सींचना होगा जिससे कि मूल्यों का विकास संभव बन सके। अन्यथा बात कुछ अटपटी-सी बन जाएगी। समस्या यह है कि अपनी कमजोरी का पूरा अनुभव नहीं होता। आदमी की प्रवृत्ति है कि वह अपनी कमजोरी को छुपाना चाहता है।

एक आदमी अपने मैनेजर के पास जाकर बोला—'यह जो महिला टाइपिस्ट मेरे साथ काम कर रही है, उसे सेवा निवृत्त करना चाहता हूं।' मैनेजर ने पूछा—'क्यों छोड़ना चाहते हो?' उसने कहा—'यह ठीक टाइप करना ही नहीं जानती, बार बार अशुद्ध शब्द लिख देती है, बार बार मुझे तंग करती है, पूछती रहती है कि इस शब्द का स्पेलिंग क्या होगा? उस शब्द का स्पेलिंग क्या होगा? मुझे बताने में कितना समय लगाना पड़ता है?' मैनेजर ने कहा—'इतनी छोटी सी बात के लिए उसको छोड़ना क्या ठीक होगा? पूछने में क्या आपत्ति है? तुम्हें पूछती है तो तुम बता दिया करो।' उसने कहा—'मैं बार बार बताऊं तो मुझे बार बार डिक्सनरी देखनी पड़ती है। मेरा समय ऐसे ही व्यर्थ चला जाता है।'

कमजोरी तो अपनी है और छोड़ना उसको चाहता है। यह एक बड़ी समस्या है। आदमी यदि अपनी दुर्बलता को ठीक समझ ले तो कोई समाधान मिल सकता है।

अहिंसा की चर्चा हजारों वर्षों से हो रही है। उसे आज भी आवश्यक मानते हैं पर उसका विकास नहीं हो पा रहा है। उसका मूल कारण है हमारी दुर्बलता। दुर्बलता यह है कि हम उसके प्रति सच्चे मन से प्रयत्न करना नहीं चाहते। आज हिंसा के पीछे जितनी मानवीय शक्ति खर्च हो रही है उसका एक प्रतिशत भाग भी अहिंसा के पीछे खर्च नहीं हो रहा है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। हमारी दुहाई है अहिंसा की और सारी शक्ति का नियोजन हो रहा है हिंसा के पीछे। हर आदमी शांति से रहना चाहता है और उसकी सारी प्रवृत्तियां अशांति को सिंचन दे रही हैं। क्या यह विरोधाभास नहीं है? यह सब क्यों हो रहा है? इसलिए कि बचपन से ही संस्कार दूसरे

प्रकार के बने हुए हैं।

एक बार आचार्य तुलसी के सामने एक प्रश्न आया कि छोटे बच्चों को दीक्षित नहीं करना चाहिए। बड़ा आन्दोलन छिड़ा। उस स्थिति में आचार्यश्री ने कहा–'मैं इस पक्ष में नहीं हूं कि बच्चों को ही दीक्षा दी जाए। किन्तु यह मुझे स्पष्ट लगता है कि छोटे बच्चे जितने योग्य प्रमाणित होते हैं उतने शायद बड़े योग्य प्रमाणित नहीं होते। यह हमारा अनुभव है।' मैं केवल अपनी परम्परा की बात आपको बताऊं कि आठ आचार्य हो चुके हैं, आचार्यश्री तुलसी नौवें हैं और दसवां मैं आपके सामने बैठा हूं। इस परम्परा में लगभग १०,११,१२ वर्ष की अवस्था वाले आचार्य हुए हैं। आचार्यश्री ग्यारह वर्ष की अवस्था में मुनि बने, मैं दस वर्ष की अवस्था में मुनि बना। हमारा अनुभव है कि जो छोटी अवस्था में बने, उन्होंने जो साधना का विकास किया और उनके संस्कार जितने उपयोगी बने, बड़ी अवस्था वालों के नहीं बने। कारण स्पष्ट है कि पहले गृहस्थी में उलझे, बाद में मुनि बने, स्मृतियां दोनों तरफ काम करती हैं। इधर मुनि बन गए तो मुनि-धर्म को निभाना है और स्मृतियां अतीत वाली काम करती हैं। वे बंधन बार बार सामने आ जाते हैं। बचपन में संस्कारों की उतनी तीव्रता नहीं होती, बाधाएं नहीं आतीं और नए संस्कारों को, नई आदतों को पैदा करने में बड़ी सुविधा होती है। जब संस्कार रूढ़ हो जाते हैं, अर्जित आदतें जब रूढ़ बन जाती है तब उन्हें तोड़ना हर किसी के वश की बात नहीं होती। कुछ व्यक्ति अपवाद हो सकते हैं कि जो बड़ी अवस्था में भी आमूलचूल बदल सकते हैं, अपनी आदतों को बदल देते हैं, अपने संस्कारों में भी परिवर्तन ला देते हैं। किन्तु इसे मैं साधारण घटना नहीं मानता। बड़ा होने के बाद संस्कारों को बदलना एक विशेष घटना है। छोटी अवस्था में अभिलषित आदत का निर्माण किया जा सकता है, यह बहुत संभव हैं।

इसलिए शिक्षा के साथ इसकी बहुत संगति बैठती है कि प्रारंभ से ही बच्चों में वैसी आस्थाओं का निर्माण किया जाए, जिनकी अपेक्षा समाज रखता है और जिन्हें हम सामाजिक मूल्य के रूप में विकसित करना चाहते हैं।

अहिंसा का तीसरा तत्त्व है—कष्ट-सहिष्णुता। हमारे सामने दो मार्ग हैं। एक है सुविधा का मार्ग और दूसरा है कष्ट-सहिष्णुता का मार्ग । मैं कष्ट-सहिष्णुता की चर्चा करूं तो मुझे ऐसा लगता है कि मैं आज की धारा के प्रतिकूल बात कर रहा हूं। आज युग की धारा सुविधावादी धारा है। सारे आश्वासन सुविधावाद के मिल रहे हैं। एक व्यक्ति चुनाव लड़ता है, वह अपने चुनाव क्षेत्र में आश्वासन यह देता है कि मैं तुम्हें अधिक से अधिक सुविधा उपलब्ध कराऊंगा और उस आधार पर चुनाव में हार और जीत होती है। शायद पूरा कर सके या न कर सके, पर आश्वासन देगा अधिक से अधिक सुविधा का।

एक व्यक्ति चुनाव में खड़ा हुआ। उसने चुनाव का प्रचार शुरू किया और कहा कि देखो, पहली बार तुम लोगों ने मुझे जिताया तो मैंने गांव-गांव में पानी के नल लगवा दिए। अब अगर मुझे जिताओगे तो नलो में पानी भी आ जाएगा। आश्वासन देता है और उस सुविधा के आश्वासन में आदमी उलझ जाता है।

एक बड़ी समस्या है सुविधावादी दृष्टिकोण। मैं उसके प्रतिपक्ष में कष्ट-सहिष्णुता की बात कर रहा हूं। अभी गर्मी नहीं है। यदि गर्मी हो तो हर व्यक्ति पंखे के आस-पास बैठना चाहेगा, कमरे में बैठना कोई नहीं चाहेगा। हमारी प्रवृत्ति है सुविधा की ओर। सहज आकर्षण है सुविधा के प्रति। क्या हम मनुष्य की सहज मांग को ठुकरा कर कोई ऐसी प्रतिकूल धारा की बात तो नहीं कर रहे हैं, जिसे अस्वाभाविक कहा जाए?

समाज का आधार : अहिंसा की आस्था

आज यह सुना जा रहा है कि हिंसा बहुत बढ़ रही है। कारण की खोज में जाएं और गहरे में उतरें तो पता चलेगा कि सुविधावादी दृष्टिकोण के कारण हिंसा बढ़ रही है। बात तो बहुत दूर की-सी लगती है कि सुविधावाद और हिंसा का क्या संबंध है? किन्तु कभी कभी बहुत दूर की बात बहुत निकट की बात हो जाती है। सुविधावाद और हिंसा--इन दोनों में गहरा संबंध है। जैसे जैसे कष्ट सहने की हमारी क्षमता घटेगी, हमें हिंसा का सहारा लेना पड़ेगा। हम सहन नहीं कर पाएंगे। आज का पूरा वातावरण ऐसा है कि कोई किसी को सहन नहीं करता। असहिष्णुता ने हिंसा को काफी आगे बढ़ाया है। शारीरिक असहिष्णुता और मानसिक असहिष्णुता--कष्ट को न सहना, मानसिक भावों को न सहना, ये दोनों हिंसा के बहुत बड़े निमित्त बनते हैं।

एक व्यक्ति कोई घटना को सहन नहीं कर सकता और वह आत्महत्या तक की स्थिति में चला जाता है। एक व्यक्ति दूसरे के द्वारा पैदा की गई थोड़ी-सी अप्रिय स्थिति को सहन नहीं कर सकता, शारीरिक कष्टों को बिलकुल सहन नहीं कर सकता, उस स्थिति में हम अहिंसा की कल्पना नहीं कर सकते। अहिंसा एक शक्ति है, पराक्रम है, वीर्य है। भ्रमवश ऐसा मान लिया गया कि अहिंसा कायर के लिए है। यह बहुत बड़ी भ्रांति है। कायरता का और अहिंसा का कोई संबंध ही नहीं है। कायर आदमी को अहिंसा नहीं छूती और अहिंसा को कायर आदमी नहीं छूता। दोनों में जैसे अस्पृश्यभाव है। अहिंसा आन्तरिक ऊर्जा का विकास है। परम पराक्रमी व्यक्ति ही अहिंसा की बात सोच सकता है और कर सकता है। जब दृष्टि बदलती है, पराक्रम स्वतः स्फूर्त होता है तब अहिंसा प्रगट होती है। अगर हम कष्ट-सहिष्णुता को छोड़कर अहिंसा की कल्पना करें तो वह हमारी मात्र भ्रान्ति ही होगी। इन दोनों को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता।

प्राचीन काल की घटना है। एक व्यक्ति के मन में ज्ञान की गहरी पिपासा थी। उसे पता चला कि ४० कोस की दूरी पर एक लुहार रहता है। वह बहुत बड़ा ज्ञानी है। वह उसके पास पहुंचा और अपनी प्रार्थना प्रस्तुत की कि मैं ज्ञान प्राप्ति के लिए आया हूं। लुहार ने कहा—बैठो और इस धौंकनी की रस्सी को पकड़ लो। लुहार धौंकनी धौंक रहा है, वह रस्सी पकड़े बैठा है। बैठा रहा। दिन पूरा हो गया। कुछ भी नहीं बताया। दूसरा दिन बीता, तीसरा दिन बीता। दिन ही नहीं बीते, वर्ष बीत गया। वह बार बार कहता रहा कि मैं धौंकनी चलाने के लिए नहीं आया हूं, ज्ञान की प्यास लिया आया हूं। लुहार बात को सुनी-अनसुनी करता रहा। दस वर्ष बीत गए। लुहार ने एक दिन उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा—तुम अपने घर चले जाओ। जो पाना था, वह तुम पा चुके। तुम्हारी कसौटी हो गई। तुम पात्र हो, तुममें इतनी सहिष्णुता है कि दस वर्ष का समय ज्ञान-प्राप्ति के लिए लगा सकते हो। अब कुछ भी मिलना शेष नहीं है, तुम्हें जो कुछ मिलना चाहिए था, वह मिल गया।

यह कल्पना जैसी बात लगती है। आज किसी विद्यार्थी से अध्यापक कहे कि यह झाड़ू लो और दस वर्ष तक सफाई करो तो दस वर्ष तो क्या दस घंटा भी हो जाए तो बड़ी मुश्किल लगती है। वह सोचेगा, पूरा दिन निकम्मा चला गया, कुछ पढ़ाया ही नहीं । आज इतनी अस्थिरता है आदमी में।

आज के आदमी में वैचारिक, सांस्कृतिक और चैतसिक अन्तर आया है। वह इतना त्वरितगामी हो गया कि वह किसी बात को सहन नहीं कर सकता। इस असहिष्णुता ने हिंसा को जन्म दिया। असहिष्णुता बढ़ी है सुविधावादी दृष्टिकोण के कारण। अगर थोड़ी सुविधा न मिले तो व्यक्ति सब कुछ करने को तैयार है। हमारा लक्ष्य किसी तत्त्व को या परम तत्त्व को, परा-विद्या को या अपराविद्या को पाना नहीं रहा। लक्ष्य केवल बन गया सुविधा का। जहां सुविधा मिले वहां रहना।

बात है तो व्यंग्य की, पर इस प्रसंग में बहुत घटित हो सकती है। आदमी का दृष्टिकोण जैसा होता है, वह वैसे ही सोचता है।

एक बनिया मरा और यमराज के पास पहुंचा। यमराज ने

कहा–'बोलो, तुम कहां जाना चाहते हो, स्वर्ग में या नरक में?' वह बोला–'मुझे स्वर्ग और नरक से कुछ लेना-देना नहीं है। जहां दो पैसे का लाभ हो वहीं भेज दें।

जब दृष्टिकोण अर्थ-प्रतिबद्ध हो जाता है तब व्यक्ति यह नहीं देखता कि वह स्वर्ग है या नरक। उसे तो दो पैसे चाहिए। ठीक यही बात आज हो रही है। आज का मनुष्य कहां अच्छाई है और कहां बुराई है, इस बात की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं समझता। वह केवल इतना जानता है कि जहां, सुविधा, अधिकतम भोग मिले, वहीं कल्याण है। यह एक दृष्टि बन गई। इस परिस्थिति में और क्या कल्पना की जा सकती है? संभावना भी नहीं की जा सकती। इस स्थिति में संघर्ष का बढ़ना अनिवार्य है। हम एक ओर जाएं। दोनों बातों को साथ लेकर न चलें। दो घोड़ों की सवारी एक साथ नहीं की जा सकती। एक पर ही चढ़ा जा सकेगा। या तो सुविधावाद पर चलें फिर हिंसा होती है, उसे स्वीकार करें क्योंकि यह इसका निश्चित परिणाम है। हम फिर क्यों घबराएं और क्यों कष्ट का अनुभव करें? हम यह सोचते हैं कि सामाजिक जीवन में अधिकतम अहिंसा या शांति हो, उपद्रव न हो, अपराध न हो, आक्रामक मनोवृत्तियां न हों, आतंकवाद न हो, तो फिर सुविधावादी दृष्टिकोण को बदलना होगा। दोनों बातें साथ नहीं चल सकतीं। हमें एक का चुनाव करना पड़ेगा। अधर में त्रिशंकु की स्थिति बन जाती है। यह समय है चुनाव करने का। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि सुविधा न भोगें। यह कैसे कहा जा सकता है? एक सामाजिक प्राणी, समाज में जीने वाला सुविधा का अनुभव न करे, यह कैसे संभव है? सुविधा को भोगना एक बात है और सुविधावादी दृष्टिकोण होना दूसरी बात है। जो सुविधा प्राप्त है उसका उपभोग करने में अनर्थ जैसा मुझे कुछ नहीं लगता, किन्तु जब येन-केन प्रकारेण सुविधा ही प्राप्त करने का दृष्टिकोण बन जाता है, तब समस्याएं पैदा होती हैं।

यह वैज्ञानिक युग है। इस युग ने मनुष्य के लिए सुविधा के बहुत साधन जुटाए हैं तो साथ साथ उद्दण्डता,उच्छृंखलता और अपराध के साधन भी जुटाएं हैं। दोनों बातें साथ साथ चल रही हैं।

एक व्यक्ति के पास फ्रीज है, पंखा है, वातानुकूलन है। ये सारी सुविधाएं उसे प्राप्त हैं। मोटरकार है, रेडियो है, टेलीविजन है, सब कुछ है तो दूसरा व्यक्ति भी ललचाएगा। वह सोचेगा कि इसको इतनी सुविधा प्राप्त है तो मुझे क्यों नहीं होनी चाहिए ? एक वह जमाना था कि यदि किसी बड़े आदमी को सुविधा प्राप्त होती तो वह यह सोचता कि मैं तब तक उस सुविधा का भोग नहीं करूंगा जब तक वह सर्वसुलभ न बन जाए। जो बड़ा आदमी है, जिसे सब कुछ प्राप्त है, वह उसको त्यागेगा और संयम में रहेगा तो दूसरों के मन में एक निष्ठा पैदा होगी।

महामात्य चाणक्य को उद्धृत किया जा सकता है। मुद्राराक्षस ग्रन्थ में चाणक्य का जो वर्णन किया है, वह हृदयवेधी और मार्मिक है। चाणक्य एक कुटिया में रहता था। वहां कुछ उपले पड़े थे। कुछ पत्थर पड़े थे। कुछ चीजें पड़ी थीं। इतनी साधारण कुटिया, इतने साधारण उपकरण कि जिनके बारे में सोचा ही नहीं जा सकता। वह एक बड़े साम्राज्य का प्रधानमंत्री, सर्वेसर्वा, संचालक इतनी साधारण स्थिति में रह सकता है, कल्पना नहीं की जा सकती।

अकाल का मौसम। सर्दी आई। सर्दी में गरीबों की बुरी हालत थी। जनता के द्वारा नए कंबल इकट्ठे किए गए। कंबलों का ढेर लगा है कुटिया के पास और माहमात्य चाणक्य अपनी कुटिया में सो रहा है। चोरों का मन कंबल चुराने के लिए ललचा गया। चोरों ने सोचा, चोरी का अच्छा अवसर है और अवसर को खोना भी समझदारी की बात नहीं है। उन्होंने नए कंबल उठा लिए। फिर भीतर देखा और जब आदमी भीतर देखता है तब मनः स्थिति बदल जाती है। भीतर कुटिया में देखा कि महामात्य चाणक्य सो रहा है और वह एक पुराना कंबल ओढ़े हुए है। यह देख चोरों का दिल भी बदल गया। उन्होंने सोचा, इतने सारे कंबल पड़े हैं, इतना सब कुछ है, फिर भी महामात्य मात्र एक पुराना कंबल लपेटे सो रहे हैं और हम चोरी करके कंबल ले जा रहे हैं। दिल बदल गया। सारे कंबल वहीं छोड़कर चले गए।

ये बातें कहानी जैसी लगती हैं। आज हमारी समझ में नहीं आतीं कि ऐसा भी हो सकता है क्या? आज के चिंतन में ये बातें फिट

नहीं बैठतीं। कोई ऐसा फ्रेम बनाना होगा जिसे विचारों की खिड़की में फिट किया जा सके।

आज सांस्कृतिक मूल्यों का अन्तर आ गया और वह आया है हमारे ही दृष्टिकोण के कारण। इन सारी घटनाओं के संदर्भ में हम फिर विचार करें कि यदि सुख और शांति से जीना है तो अहिंसा की आस्था पैदा करनी होगी। अहिंसा की आस्था पैदा करनी है तो सुविधावादी और पदार्थवादी दृष्टिकोण को बदलना होगा। पदार्थ का भोग करते हुए भी, सुविधा का भोग करते हुए भी, दृष्टिकोण सुविधावादी और पदार्थवादी न रहे। यह बहुत संकरी गली है पर इसमें से गुजरे बिना हम सामाजिक मूल्यों के विकास की बात या शांतिपूर्ण जीने की बात सोच ही नहीं सकते।

अहिंसा का चौथा तत्त्व है—स्व-नियन्त्रण, अपने आप पर नियन्त्रण। अपने आवेशों पर नियन्त्रण किए बिना अहिंसा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। हमारे अनियन्त्रित आवेश ही हमारी वृत्तियों को हिंसक बना रहे हैं।

जीवन विज्ञान का प्रयोग स्व-नियन्त्रण का प्रयोग है। **इसके** द्वारा व्यक्ति अपने आवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त करने की **कला सीख** सकता है। स्व-नियन्त्रण का लाभ है—अपने प्रति अहिंसक **होना।**

हमें जागतिक अहिंसा—सार्वभौम अहिंसा की बात एक बार **छोड़** देनी चाहिए। हमारा सीधा प्रयत्न विश्व-शांति, विश्व-बंधुता के लिए होता है। हमें पहले यह सोचना चाहिए कि अपने में शांति और **अपने** में बंधुता है या नहीं? अपने भाई के साथ तो बंधुता का व्यवहार नहीं है और श्लोक दोहराया जाता है—**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकं।** यह कितनी बड़ी विडम्बना हो जाती है। हमें इस बात में बहुत विश्वास होना चाहिए कि अपनी अहिंसा सबसे पहले होनी चाहिए। मैं दूसरे के प्रति अहिंसक बनूं, इससे पहले अपने प्रति अहिंसक बनूं, इसका विकास होना जरूरी है। हम बहुत लम्बी-चौड़ी बातों में न उलझें। पूरे राष्ट्र की समस्या, विश्व की समस्या, मानवजाति की समस्या—ये घोष बड़े अच्छे लगते हैं, कानों को प्यारे लगते हैं, एक बार दिमाग को झंकृत भी करते हैं, किन्तु निष्पत्ति में बहुत अर्थवान्

नहीं होते। हमारे लिए सबसे ज्यादा अर्थवान् बात यह होगी कि हम अपने प्रति अहिंसक बनें। जो व्यक्ति अपने प्रति अहिंसक है, वह दूसरे के लिए अभयंकर है और अपने आप में अभयंकर है। किसी के लिए वह खतरा पैदा नहीं करता। अणुबमों का खतरा है, यह स्वीकारते हुए भी हम इस बात को न भूलें कि वह खतरा होगा, नहीं कहा जा सकता। यदि होगा तो सारे संसार को होगा, फिर चिंता की बात ही क्या है?

एक सैनिक से किसी ने पूछा—तुम सेना में भर्ती हुए हो, तुम्हें डर नहीं लगता? वह बोला—डर किस बात का? उसने कहा—लड़ाई में जाना पड़ेगा, मौत के मुंह में जाना पड़ेगा। सैनिक बोला—मुझे कोई डर नहीं लगता। मैं सेना में हूं, लड़ाई होगी या नहीं होगी, क्या पता? कल्पना करो कि लड़ाई होगी तो मेरा नम्बर मोर्चे पर जाने का आएगा या नहीं आएगा, क्या पता? मेरा नम्बर अगले मोर्चे पर जाने का आएगा तो मै मरूंगा या नहीं मरूंगा क्या पता? यदि मरने का नम्बर आया तो फिर डर किसको लगेगा ? जो मर गया उसे तो डर लगेगा नहीं, तो पहले ही मैं क्यों मरूं ? पहले मरने की जरूरत क्या है?

जो व्यक्ति अपने आपमें इतना विश्वस्त होता है वह अपने प्रति अभय और अहिंसक हो जाता है। हम अहिंसा के सिद्धान्त की चर्चा करते हैं और लम्बी-चौड़ी चर्चा करते हैं। वह जब बड़े आदमी के समझ में नहीं आती तो छोटे विद्यार्थी के समझ में कहां से आएगी?

हम जीवन विज्ञान के संदर्भ में इस चर्चा को एक नया मोड़ दें। वह यह कि तुम दूसरे की बात छोड़ो, अपने प्रति अहिंसक बनो। अगर तुम अपने प्रति अहिंसक बनोगे तो इसका पहला परिणाम यह होगा कि आत्महत्या से बच जाओगे।

आज शिक्षा के क्षेत्र में भी आत्महत्या की बात होती है। विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होता है और मरने की बात सोच लेता है। थोड़ा-सा पारिवारिक झंझट हुआ कि मरने की बात सोच लेता है। यह सारा अपने पर नियन्त्रण न कर सकने के कारण होता है। इसलिए स्व-नियन्त्रण की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम अपने पर नियन्त्रण कर सकें, यह बहुत मूल्यवान् बात है। जिसने अपने आवेगों पर

नियन्त्रण करना सीख लिया, वह अपने प्रति अहिंसक बन गया। जो अपने प्रति अहिंसक बन गया, वह दूसरों के लिए भी अहिंसक बन गया। हम केवल दूसरों के प्रति उसे अहिंसक बनाएंगे, तो वह बन नहीं पाएगा। क्योंकि भीतर में आग लग रही है, भट्टी जल रही है और बाहर शांति की बात करें, यह कैसे संभव है ? पहले अपने भीतर की आग को शांत करना है, उस भट्टी को बुझाना है। वह बुझेगी तो अपने आप शान्ति हो जाएगी। फिर शान्ति के लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। इसलिए स्व-नियन्त्रण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अहिंसा की आस्था उत्पन्न करने में बाधाएं भी बहुत हैं। जब तक उन बाधाओं पर विचार नहीं करेंगे तब तक केवल आस्था उत्पन्न करने की बात ज्यादा सार्थक नहीं बनेगी। सबसे पहली बाधा है—हमारी धारणा। हम मान बैठे हैं कि समाज की प्रतिकूल परिस्थिति में, प्रतिकूल वातावरण में, आर्थिक वैषम्य वाले वातावरण में, अहिंसा की बात कैसे सोची जा सकती है? कब तक सोची जा सकती है? और इसीलिए कुछ राजनैतिक प्रणालियों में हिंसा का समर्थन किया गया है।

सामाजिक व्यवस्था, समतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक समानतावाली सामाजिक व्यवस्था को लाने के लिए हिंसा का सहारा भी लिया जा सकता है—इस विचारधारा ने काफी लोगों को आकृष्ट भी किया है। पर समय के साथ यह बात बहुत स्पष्ट होती गई कि स्व-नियन्त्रण का विकास हुए बिना, हिंसा के द्वारा नियन्त्रित सामाजिक प्रणाली भी बहुत अच्छी नहीं हो सकती। उसका यह रूप सामने आया कि इतने नियन्त्रण में भी आदमी जैसा चाहिए वैसा नहीं बना। इतने नियन्त्रण के बाद भी आदमी का हृदय नहीं बदला, मस्तिष्क नहीं बदला। इतने प्रयोग हुए, पर आदमी बदला हो, ऐसा नहीं लग रहा है। इसका कारण यही है कि बदलने की बात है भीतर और नियन्त्रण की बात है बाहर। बाहर से आप भले ही आदमी को बांधकर रख दें, किंतु भीतर में उसका प्रभाव नहीं हुआ तो जैसे ही बंधन खुले, वह वैसा करने को तैयार हो जाएगा। यहां कोई बदलाव की स्थिति नहीं है। यह तो एक निरोध की स्थिति है। किसी को कारावास में डाल दिया,

वह चोरी कैसे करेगा? किंतु कारावास में ऐसे बहुत से लोग हैं कि जो अनेक बार अपराध कर चुके हैं, कारावास की सजा भोग चुके हैं। उनमें परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता।

प्रश्न होता है कि क्या परिस्थिति शक्तिशाली है या चेतना शक्तिशाली है? यदि परिस्थिति शक्तिशाली है तो फिर उसे बदलने का कोई उपाय नहीं है। जो परिस्थिति है, जैसी है वैसी ही रहेगी। उसे हम बदल ही नहीं सकते। किंतु चेतना बहुत शक्तिशाली है। परिस्थिति को बदलती कौन है और परिस्थिति का निर्माण कौन करती है? मनुष्य की चेतना ने ही परिस्थिति का निर्माण किया है और मनुष्य की चेतना ने ही परिस्थति को बदला है। यह स्पष्ट हो गया कि हमारी चेतना अधिक शक्तिशाली है तो फिर हम परिवर्तन कहां से शुरू करें? चेतना से शुरू करें। आस्था पैदा करनी है, वह चेतना में करनी है, न कि परिस्थिति में। हमारी चेतना में आस्था का बीज बोना है। मुझे विश्वास है कि एक बच्चे में यदि सही ढंग से आस्था उत्पन्न की जाए तो वह प्रतिकूल परिस्थिति के बावजूद भी अच्छे मार्ग पर चल सकता है। ऐसी घटनाएं हमारे सामने बहुत बार आती हैं कि माता-पिता का आचरण अनैतिकतापूर्ण है। पिता व्यापार करता है अनैतिकतापूर्ण, किंतु उसका बच्चा बिलकुल नैतिकता में निष्ठा रखने वाला है और वह पिता को साफ-साफ कहता है—पिताजी, दूसरों को धोखा देकर, छलनापूर्ण व्यवहार कर आप इतना धन कमाते हैं, क्या धन को साथ में ले जाएंगे? मुझे ऐसा धन नहीं चाहिए। आप किसलिए करते हैं? यह अन्तर क्यों आया? परिस्थिति दोनों के सामने एक थी। फिर अन्तर क्यों आया? यह चेतना का अन्तर है। प्रतिकूल परिस्थिति में भी चेतना का विकास किया जा सकता है, यह सही घोष है।

हमारी यह प्रतिबद्धता नहीं होनी चाहिए कि जैसी परिस्थिति होगी, वैसा आदमी होगा। बल्कि इस स्थान पर हमारा यह घोष होना चाहिए कि जैसी आस्था होती है, वैसा आदमी होता है। जैसा संकल्प होता है, वैसा आदमी बनता है। समाजशास्त्र का एक सूत्र बना दिया गया कि जैसी परिस्थिति होती है, वैसा आदमी बनता है। यानी आदमी परिस्थिति की उपज है। इस सूत्र ने बहुत भ्रांतियां पैदा कर दी हैं।

अध्यात्म का या भारतीय चिंतन का सूत्र है कि जैसी आस्था होती है, जैसा संकल्प होता है, वैसा आदमी होता है। अगर यह नहीं होता तो प्रतिकूल परिस्थिति में ईमानदार आदमी पैदा ही नहीं होता। फिर उसे बदलने का प्रयत्न ही नहीं होता। हमें एक संकल्प लेने की जरूरत है, एक आस्था पैदा करने की जरूरत है। उसके लिए पहले हमारी धारणाओं को स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

अहिंसा के विकास में दूसरी बाधा है—हिंसा का संस्कार। हिंसा के अपने संस्कार हैं। हम परिवर्तन की बात सोचते हैं किन्तु इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने कर्मजनित संस्कार होते हैं। यह कोई जादू का खेल नहीं कि थोड़ा-सा कुछ किया और सब बदल गया। हिंसा के अपने अपने संस्कार हैं। एक व्यक्ति में हिंसा के तीव्र संस्कार होते हैं। दूसरे व्यक्ति में हिंसा के संस्कार कम होते हैं। तारतम्य है और इतना तारतम्य कि सोच ी नहीं सकते। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपनी योग्यता की तरतमता है। हम ऐसा तो नहीं कर सकते कि एक राजकीय आदेश या राष्ट्रपति का अध्यादेश निकाला और वह लागू हो गया। हमें इस सचाई को मानकर चलना पड़ेगा कि यह एक वैयक्तिक विशेषता है। अपने अपने संस्कार हैं, इसलिए हम यह आशा नहीं कर सकते कि सब में यह आस्था उत्पन्न हो जायेगी। फिर भी हम निराश न हों। हमारी अपनी आस्था यह होनी चाहिए कि प्रयोग के द्वारा, प्रयत्न और अभ्यास के द्वारा संसार को भी परिष्कृत किया जा सकता है। हम सर्वथा परतन्त्र नहीं हैं उस संस्कार से। संस्कार है, यह हम स्वीकार करेंगे और संस्कार हमें सचांलित कर रहा है, इसे भी हम अस्वीकार नहीं करेंगे किंतु हम केवल परतन्त्र नहीं हैं, संस्कार की कठपुतली नहीं हैं। हम प्रयत्न और अभ्यास के द्वारा संस्कार को बदल सकते हैं, उसमें परिष्कार ला सकते हैं। यह क्षमता भी हमारे भीतर है।

विघ्न या बाधा को मिटाने के लिए हमारा अभ्यास हमें बहुत सहायता देता है। इस दृष्टि से भी अभ्यास का महत्त्व बढ़ जाता है कि यदि हमारा प्रयत्न है, अभ्यास है तो हम संस्कार पर विजय पा सकते हैं, उसे परिष्कृत कर सकते हैं।

अहिंसा के अनेक विघ्न हैं, हिंसा क अनागन कारण है। आज इतना ही चिंतन करें कि एक नये संकल्प और नई आस्था का निर्माण हो और वह बचपन से हो, शिक्षा के क्षेत्र में हो, धर्म के क्षेत्र में हो और अध्यापक या धर्मगुरु के द्वारा हो। आज दो ही स्थान ऐसे हैं जहां से कुछ आशा की जा सकती है। एक तो है–
धर्म का क्षेत्र और दूसरा है–शिक्षा का क्षेत्र। इसके अतिरिक्त तीसरा क्षेत्र कोई दिखाई नहीं दे रहा है। धर्म के क्षेत्र से भी आज अधिक मूल्यवान् बन गया है शिक्षा का क्षेत्र, क्योंकि आज का विद्यार्थी जितना शिक्षा से जुड़ा हुआ रहता है उतना धर्म से नहीं। पहले तो घर के वातावरण में माता-पिता बच्चे को धर्म का पाठ पढ़ाते थे पर आज वह भी छूट गया है। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में ही यदि आस्था के कुछ बीज बोने की बात सोची जाए तो शायद सामाजिक मूल्यों के विकास की बात आगे बढ़ सकती है, उसका सुपरिणाम आ सकता है।

समाज का आधार : अहिंसा का विकास

हम जिसे चाहते हैं और हम जिसे नहीं चाहते–दोनों बातें दुनिया में चल रही हैं। अहिंसा को चाहते हैं, उसका विकास कम हो रहा है। हिंसा को नहीं चाहते, उसका विकास अधिक हो रहा है। हमारी चाह पर सब बातें निर्भर नहीं हैं।

आज हिंसा का विकास हो रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अहिंसा के विकास में विघ्न उपस्थिति हो रहे हैं। विघ्न सात हैं–

१. हिंसा का संस्कार
२. कर्म का संस्कार या जीन
३. परिस्थिति या वातावरण
४. शरीरगत रसायन
५. अनास्था
६. अप्रयत्न
७. प्रशिक्षण और अनुसंधान की कमी।

पहला विघ्न है–हिंसा का संस्कार, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। दूसरा विघ्न, आज जो माना जाता है, वह है 'जीन'। जीनेटिक इन्जीनियरिंग में मानव व्यवहार के लिए जीन को उत्तरदायी बतलाया गया। जिस प्रकार का जीन होता है, संस्कार-सूत्र होता है, आदमी वैसा ही व्यवहार करता है। व्यवहार का उत्तरदायित्व जीन पर आरोपित किया गया। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो कर्म-शास्त्रीय भाषा में कर्म का संस्कार और विज्ञान या आनुवंशिकी की भाषा में 'जीन'। ये दोनों बहुत निकट आ जाते हैं। इन दोनों को परिवर्तित करना कठिन माना जाता है। कर्म-संस्कार और जीन को बदलना सरल काम नहीं है और इसीलिए जगत् की यह सारी विविधता है।

एक व्यक्ति बहुत अच्छा व्यवहार करता है, दूसरा बुरा व्यवहार करता है, तीसरा उससे और अधिक बुरा व्यवहार करता है, चौथा और अधिक बुरा व्यवहार करता है। यह अन्तर इसलिए आता है कि सबके

कर्म-संस्कार भिन्न-भिन्न हैं, आनुवंशिकी भाषा में सबका जीन भिन्न भिन्न है, इसीलिए सबका व्यवहार एक जैसा नहीं होता। इसे बदलना बहुत प्रयत्न-साध्य है, सरल नहीं है। जो व्यक्ति साधना के क्षेत्र में बहुत प्रयत्नशील होता है, वही इन्हें बदल सकता है। बदलना संभव है पर उतना परम पुरुषार्थ करना हर व्यक्ति के वश की बात नहीं है और हर कोई व्यक्ति उतना पुरुषार्थ करना भी नहीं चाहता।

अहिंसा के विकास का तीसरा विघ्न है--परिस्थिति या वातावरण। यह विघ्न कर्म-संस्कार या जीन जैसा प्रबल नहीं है। आदमी जिस दुनिया में जीता है वहां हिंसा का वातावरण भी है, हिंसा की परिस्थितियां भी हैं। परिस्थितियां हिंसा के लिए उत्तेजना पैदा कर रही हैं। एक व्यक्ति शांत है, किंतु दूसरा व्यक्ति भड़काने वाली प्रवृत्तियां करता है तो जो शांत है, वह भी हिंसोन्मुख बन जाता है। ऐसा बहुत बार होता है। पड़ोसी यदि दुष्ट स्वभाव वाला है, हिंसा में विश्वास करने वाला है और वह अवांछनीय प्रवृत्ति करता है तो जो अच्छा व्यक्ति है, अच्छे स्वभाव वाला है, उसमें उत्तेजना के बीज अंकुरित हो जाते हैं।

एक पड़ोसी ने अपने घर से कूड़ा-कचरा निकाला और पास वाले घर के सामने डाल दिया। पास वाले ने देखा और कहा--भाई! ऐसा क्यों करते हो? ऐसा करना तो अच्छा नहीं है। थोड़ा आगे जाओ और कचरा वहां डालो जहां किसी का मकान न हो। तुम अपने घर से निकले और मेरे घर के सामने कचरा डाल गए, इससे क्या लाभ हुआ? उसने कहा--जहां स्थान मिला वहां डाल दिया। मैं क्या कर सकता हूं? इतना रूखा उत्तर दिया। उसे एक बार समझाया, दो बार समझाया, तीन बार समझाया। वह नहीं माना। उस स्थिति में प्रतिक्रिया पैदा होना या प्रतिक्रियात्मक हिंसा का भाव पैदा होना स्वाभाविक है।

एक है क्रियात्मक हिंसा और दूसरी है प्रतिक्रियात्मक हिंसा। इस प्रतिक्रिया की स्थिति में एक सिद्धांत बनता है कि ईंट का जवाब पत्थर से दो। यह क्रियात्मक सिद्धान्त नहीं है। यह प्रतिक्रियात्मक सिद्धान्त है। जब व्यक्ति के मन में प्रतिक्रिया पैदा हो जाती है तब वह इस प्रकार के सिद्धांत का निर्माण करता है।

उस व्यक्ति के मन में प्रतिक्रिया पैदा हो गई। उसने सोचा यह ऐसे नहीं मानेगा। उसने भी कूड़े-करकट के साथ अपने घर की सारी गंदगी उसके घर के सामने डाल दी।

यह परिस्थिति से पैदा होने वाली प्रतिक्रिया अहिंसा के सामने बहुत बड़ा विघ्न है।

एक घटना है। पड़ोसी नीचे के फ्लैट में रहता था। वह सिगड़ी जलाता और ऐसे स्थान पर रखता जहां से धुआं ऊपर वाले फ्लैट में जाता। उसे कहा गया तो उत्तर मिला—मैं कुछ भी नहीं कर सकता। धुएं का स्वभाव ऊपर जाने का है। बार समझाने पर भी वह नहीं माना। तब ऊपर वाले ने अपनी फर्श में एक छेद किया। अब गंदी नाली से पानी नीचे आने लगा। नीचे वाले ने शिकायत की, देखो, गंदा पानी नीचे आ रहा है, इतना भी ध्यान नहीं रखते? वह बोला—मैं क्या कर सकता हूं, धुएं का स्वभाव ऊपर जाने का है तो पानी का स्वभाव नीचे जाने का है।

जैसे को तैसा यह प्रतिक्रियात्मक हिंसा है। सामाजिक जीवन में इस प्रकार की स्थितियां बहुत बनती हैं। साम्यवाद की कल्पना या क्रियान्विति सामने आई तब नक्सली बने। अन्यान्य भी जो रक्त-क्रांतियां या हिंसक घटनाएं हुईं उन सबके पीछे प्रतिक्रियात्मक स्थिति ही काम कर रही है। सामाजिक जीवन में जहां इतनी विषमता होती है कि एक व्यक्ति बहुत शानदार ढंग से जीवन जीता है, फिजूल खर्ची करता है, अनावश्यक भोग करता है और धन का अतिरिक्त ढेर लगा देता है। दूसरे व्यक्ति को खाने को रोटी नहीं मिलती, उस स्थिति में प्रतिक्रियात्मक हिंसा को बल मिलता है। यह बहुत स्वाभाविक बात है और जहां भी विश्व के किसी भी कोने में, किसी भी अंचल में, इस प्रकार की घटनाएं घटित हुई हैं, उन सबकी पृष्ठभूमि में प्रतिक्रियात्मक हिंसा काम करती रही है।

एक व्यक्ति के साथ बहुत अन्याय हुआ। कहीं सुनवाई नहीं हुई और वह डाकू बन गया। इतना क्रूर डाकू बना कि उसने पचासों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया और न जाने कितनी डकैतियां कीं। डाकू बनने के पीछे भी बहुत सारी प्रतिक्रियात्मक परिस्थितियां

होती हैं। ये सामाजिक परिस्थितियां होती हैं और ऐसी घटनाएं सामने आती हैं। यदि परिस्थिति, वातावरण और व्यवस्था समतापूर्ण नहीं होती, ज्यादा असंतुलित होती है तो वहां हिंसा को बहुत बल मिलता है।

अहिंसा के विकास में चौथा विघ्न है—शरीरगत रसायन। प्रश्न पैदा होगा कि परिस्थिति की जटिलता में तो हिंसा को उत्तेजना मिलती है किन्तु ऐसे लोग भी हिंसा करते हैं जिनके सामने कोई परिस्थिति नहीं, कोई वातावरण नहीं। वे भी हिंसा में बहुत रस लेते हैं। ऐसा क्यों होता है? इस पर हम चिन्तन करें। कोई भी बात एकांगी दृष्टि से सही नहीं है और किसी घटना का एक ही कारण नहीं होता।

हिंसा का एक कारण तंत्रिका के रसायन का असंतुलन भी है। हमारी तंत्रिकाओं में पैदा होने वाले रसायन असंतुलित होते हैं तो व्यक्ति हिंसक बन जाता है, आक्रामक बन जाता है। आक्रामकवृत्ति में शरीर की क्रिया का भी बहुत बड़ा भाग है।

एक संपन्न व्यक्ति है। उसके कोई कमी नहीं, कोई असंतोष नहीं, सर्वथा सुखी, फिर भी उसमें हिंसा की वृत्ति जाग जाती है। एक व्यक्ति न चोर है, न डकैत है, कुछ भी नहीं। वह आदमी को मारने में रस लेता है। आदमी मिलता है और वह उसकी कनपटी को दबाकर मार डालता है। यह घटित घटना है। उसे न कोई लेना है, न कोई देना। वह न धन लूटता है, न और कुछ। उसका केवल इतना ही नशा है कि आदमी को मार डालना।

ऐसा क्यों होता है? तंत्रिका के रसायन असंतुलित बन जाते हैं और उस असंतुलन के कारण हिंसा में आदमी का रस पैदा हो जाता है। यह असंतुलन शरीरगत कारण है। आज शारीरिक तत्वों के कारण भी हिंसा को बल मिल रहा है। इसका संबंध हमारे भोजन से भी है और पैदा होने वाले रसायनों से भी है।

वर्तमान में फास्फोरस की मात्रा शरीर में ज्यादा जा रही है और मेग्निशियम की मात्रा कम हो रही है। यह भी आक्रामक वृत्ति का एक कारण है। शीशे की, जस्ते की मात्रा शरीर में ज्यादा जाती है, व्यक्ति

को आक्रामक बना देती है। आज के जो बर्तन हैं, वे देखने में अच्छे लगते हैं। लोग उन बर्तनों में खाना पकाते हैं, दूध गर्म करते हैं, पर वे नहीं जानते कि जस्ते से पुते हुए बर्तनों की चीजें पेट में जाकर कितना नुकसान करती हैं। आज किसी से कहा जाए कि हांडी में दूध गर्म करो, हांडी में खिचड़ी पकाओ तो लोग कहेंगे, किस शताब्दी की बात है। यह तो पिछड़ेपन की बात है। आज की शिष्टता में तो ऐसी चकाचौंध चाहिए, जिसको देखते ही मन ललचा जाए। इस बात का उनको पता नहीं है कि हांडी में गर्म किया हुआ दूध, खिचड़ी, कढ़ी बिलकुल नुकसान नहीं करती और इन बर्तनों में पकाये हुए खाद्य या पेय पदार्थ पेट में जाकर कितना नुकसान करते हैं? भड़काने वाली कितनी वृत्तियां पैदा करते हैं? कलह की वृत्ति, संघर्ष की वृत्ति, उत्तेजना की वृत्ति और असहिष्णुता जो बनी है उसके पीछे अनेक कारणों में यह भी एक कारण है।

स्वाद में भी अन्तर रहेगा। कड़ाही में गर्म किए दूध का जो स्वाद होगा, वह कलई चढ़े बर्तन में गर्म किए दूध में कभी नहीं होगा।

उपयोग में आने वाले अनेक पदार्थ हमारी वृत्तियों को प्रभावित करते हैं। किन्तु अब सभ्यता या सुविधा के साथ स्थितियां इतनी बदल गईं और मांग इतनी बढ़ गई कि इन स्थितियों में पीछे लौट आना संभव नहीं लगता। आदमी जानते हुए भी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि फिर से मिट्टी के बर्तनों में रसोई पकाई जाए। फिर भी हमें इस सचाई को स्वीकार तो करना ही पड़ेगा कि ये परिस्थितियां भी हमारी बदली हुई भावनाओं के कारण पैदा हुई हैं।

समग्रदृष्टि से देखें तो शरीर की क्रिया, शरीर में पैदा हुए रसायन और शरीर में जाने वाली धातुएं भी अपना परिणाम जताती हैं और हिंसा की निमित्त बनती हैं। यदि हमारे नाड़ीतंत्र का दायां भाग अधिक सक्रिय होता है तो उद्दण्डता और उच्छृंखलता की वृत्ति पैदा होती है।

अहिंसा के विकास का पांचवां विघ्न है—अनास्था। हमारी अहिंसा में आस्था नहीं है, अनास्था है। किसी भी व्यक्ति से पूछें, वह

कहेगा, अहिंसा से कोई काम नहीं चल सकता, डंडे से ही काम चलेगा। यह मान लिया गया कि अणु-अस्त्रों का विकास शक्ति-संतुलन के लिए, विश्व-शांति के लिए है। लोग खतरा महसूस करते हैं कि अणु-अस्त्रों से विश्व का विनाश होगा,किन्तु जिन राष्ट्रों के पास अणु-अस्त्र हैं वे इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि अणु-अस्त्रों का अम्बार शक्ति-संतुलन के लिए है। अगर एक राष्ट्र के पास अणु-अस्त्र हैं और दूसरे के पास नहीं है तो जिसके पास है, वह सारे संसार को नष्ट कर सकता है। किन्तु जब दो के पास होते हैं तो कोई यह साहस नहीं कर सकता कि एक दूसरे पर आक्रमण करे। ऐसा पागलपन करने में उसे संकोच होगा। यह सारा शक्ति-संतुलन के लिए है।

वास्तव में आदमी में अहिंसा के प्रति कोई आस्था नहीं है। आस्था है दंड के प्रति, शस्त्र के प्रति। यह अनास्था भी अहिंसा के विकास में बहुत बड़ा विघ्न है। आदमी ने कृत्रिम मान्यताएं बना दीं और उन्हीं के कारण वह अहिंसा की बात सोच ही नहीं सकता। उसका सारा जीवन कृत्रिम मान्यताओं के आधार पर ही चलता है।

यदि कभी हम एकांत के क्षणों में विचार करें तो हमें स्वयं पता चलेगा कि यथार्थ कितना है और कृत्रिमता कितनी है। बिना गहरे में उतरे इसका पता नहीं चल सकता। क्योंकि दो रूप बन जाते हैं, अतः भ्रम पैदा होता है। उस भ्रम का निरसन तभी हो सकता है जब सचाई सामने आए।

एक व्यक्ति विदेशयात्रा पर जा रहा था। अधिकारी ने कहा—तुम्हारा पासपोर्ट नकली है। उसने पूछा—कैसे? अधिकारी बोला—पासपोर्ट में लगे फोटो में तुम्हारा सिर गंजा है और अभी तुम्हारे सिर पर काफी बाल हैं। इसलिए यह पासपोर्ट नकली है। वह बोला—महाशय ! फोटो नकली नहीं है, मेरे बाल नकली हैं।

आज मूल स्थिति को पकड़ने में बड़ी समस्या हो रही है। अधिकारी भी भ्रम में आ जाते हैं। हमने भी अपने जीवन के आस-पास इतने कृत्रिम सिद्धांतों का एक जाल बिछा रखा है, ऐसा ताना-बाना बुन रखा है कि सचाई को समझना बहुत कठिन हो रहा है।

अहिंसा के विकास का छठा विघ्न है—अप्रयत्न। अहिंसा के विकास की दिशा में हमारा कोई प्रयत्न नहीं है। आस्था बने तब प्रयत्न हो सकता है। आस्था ही नहीं है तो प्रयत्न भी नहीं होगा। हिंसा के लिए कितना प्रयत्न हो रहा है? सारे संसार में शस्त्रों पर कितना खर्च हो रहा है? यदि शस्त्रों पर होने वाला खर्च मानव-कल्याण पर होने लगे तो कोई भी आदमी भूखा नहीं रह सकेगा। सारी गरीबी समाप्त हो जाएगी। फिर न स्वास्थ्य की चिन्ता, न रोटी की चिन्ता, न मकान की चिन्ता और न कपड़े की चिन्ता। यदि एक पंचवर्षीय योजना की राशि, जो शस्त्रों पर खर्च होती है, मानव-कल्याण में लगे, गरीबों की समस्या को सुलझाने में लगे तो पांच वर्ष में शायद संसार गरीबी से मुक्त हो जाए। हिंसा के अभ्यास का कितना प्रयत्न हो रहा है। पूर्वाभ्यास होता है, फौजियों की ट्रेनिंग रोज चलती रहती है। एक दृष्टि से ये सारे प्रयत्न हिंसा के तरीकों को खोज रहे हैं। अणु-अस्त्र भी बहुत पीछे रह गए। अब तो अतीन्द्रिय शक्ति के अस्त्र हैं, उनका विकास हो रहा है। अतीन्द्रिय शक्ति का विकास हो रहा है अस्त्रों के क्षेत्र में । बड़ी विचित्र स्थिति आ गई। प्राचीन काल से हम सुनते हैं कि एक ऐसी विद्या का प्रयोग किया जाता, जिससे शत्रु की सारी सेना नींद में सो जाती। यह तो प्राचीन कहानी है, किन्तु आज के वैज्ञानिकों ने भी ऐसे अस्त्र खोज निकाले हैं जिनके प्रयोग से शत्रु की सेना कर्त्तव्य-विमूढ़ है और निकम्मी हो जाती है। एक पक्षीय जो करना होगा, वह हो जाएगा। अब यह भी स्थिति आविष्कृत हो गई है कि किसी को रणक्षेत्र में जाने की जरूरत नहीं। प्रयोगशाला में बैठा बैठा वैज्ञानिक यह घटित कर देता है। आज अतीन्द्रिय अस्त्रों की यह होड़ भी शुरू हो गई है। इनमें अमेरिका, रूस आदि देशों ने काफी विकास कर लिया है। अन्तरिक्ष युद्ध की स्थिति भी बन गई है। इतना तीव्र और बहुआयामी प्रयत्न हो रहा है हिंसा के क्षेत्र में और अहिंसा के क्षेत्र में कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। अहिंसा को मानने वाले तो स्वयं लड़ रहे हैं। धर्म का क्षेत्र अहिंसा का क्षेत्र है पर उसे भी आज अहिंसा का क्षेत्र नहीं कहा जा सकता। उसमें आज इतनी साम्प्रदायिक तनातनी है कि वह स्वयं युद्ध के अखाड़े जैसा बन गया

है। आज अहिंसा स्वयं दयनीय स्थिति में है। फिर भी उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है।

अहिंसा के विकास का सातवां विघ्न है—अप्रयोगात्मक भूमिका। आज अहिंसा का कोई प्रयोग नहीं हो रहा है। यदि प्रयोग हो तो किसी भी चीज का विकास हो सकता है। जब तक नया अनुसंधान नहीं होता, नई खोज नहीं होती, उसका कोई प्रयोग और प्रशिक्षण नहीं होता तब तक किसी चीज का विकास नहीं हो सकता।

अहिंसा के लिए न कोई अनुसंधान हो रहा है, न कोई नया प्रयोग हो रहा है और न कोई प्रशिक्षण दिया जा रहा है। हमने कहीं नहीं देखा कि १०० आदमी अहिंसा की ट्रेनिंग ले रहे हों अथवा पूरे हिन्दुस्तान में अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई केन्द्र हो।

प्रयोग और प्रशिक्षण के बिना, अनुसंधान या रिसर्च के बिना किसी भी चीज का विकास हो नहीं सकता। हमारे पास ज्यादा से ज्यादा है तो अहिंसा का सिद्धांत है या कुछ महापुरुषों के जीवन की घटनाएं और जीवनियां हैं। उनसे कभी कभी थोड़ी प्रेरणा मिलती है, मस्तिष्क झंकृत होता है और मन में यह भाव जागता है कि अहिंसा अच्छी है या उन उन महापुरुषों ने इस प्रकार अहिंसा का जीवन जीया था।

पंजाब के राजा रणजीतसिंह जा रहे थे। अचानक एक पत्थर आया और महाराज के सिर पर लगा। महाराज के सिर पर कोई पत्थर लग जाए, कितनी भयानक बात थी उस समय? चारों ओर छानबीन शुरू हुई कि किसने पत्थर फेंका? सारे दौड़े। पता लगाते लगाते एक पेड़ के नीचे पहुंचे, जहां बुढ़िया खड़ी थी। वे उसे महाराज के पास लाकर बोले—महाराज ! यही है जिसने आपके सिर पर पत्थर की चोट की है। बुढ़िया बेचारी कांपने लगी। महाराज ने उससे पूछा—तुमने पत्थर फेंका? उसने कांपते स्वर में कहा—हां, महाराज ! मैंने फेंका।' 'क्यों फेंका ?' वह बोली—'बड़ी गरीब हूं। दो दिन हो गए, खाने को कुछ मिला नहीं। छोटा लड़का है। मैंने सोचा—कुछ तो लाकर लड़के को दूं। पेड़ के नीचे खड़ी थी। फल तोड़ने को पत्थर फेंका, अचानक योग मिल गया कि वह पत्थर उधर

नहीं गया, इधर आ गया और आपके सिर पर चोट लग गई। यह सही घटना है, अब चाहें सो करें।'

महाराजा ने तत्काल अपने सैनिक अधिकारियों से कहा–'इसे कुछ अशर्फियां दो और तत्काल छोड़ दो।' सब दंग रह गए कि यह कैसा दण्ड? यह भी कोई दण्ड होता है ? इसे तो फांसी की सजा होनी चाहिए। वे बोले नहीं। महाराजा ने कहा–'तुम नहीं जानते, पेड़ पर पत्थर फेंकने से पेड़ मीठा फल देता है। जब पेड़ भी मीठा फल देता है तो मैं क्या कड़वा फल दूंगा? यह कभी नहीं हो सकता। इसे इनाम देकर मुक्त कर दो।'

यह कितनी प्रेरक घटना है ! इससे आदमी सोच सकता है कि जिसका दिमाग शान्त और संतुलित होता है वह किस प्रकार का निर्णय लेता है और किस प्रकार अहिंसा का विकास करता है। अगर दिमाग असंतुलित होता तो सीधा दण्ड दे देता कि जाओ, फांसी पर लटका दो, मार डालो। किन्तु संतुलित दिगाम वाले का निर्णय अहिंसा से ओतः- प्रोत होता है। ऐसी घटनाएं अहिंसा के लिए आदमी को प्रेरित करती हैं।

अहिंसा के सिद्धांत अहिंसा के लिए प्रेरित करते हैं। अहिंसा का सिद्धान्त है–जो तुम स्वयं नहीं चाहते, दूसरों के लिए वैसा मत करो। तुम्हें सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है तो दूसरों को तुम दुःख मत दो, उन्हें भी कष्ट मत दो, उन्हें मत सताओ। यह सिद्धांत अहिंसा के लिए प्रेरित करता है। ये सिद्धांत और ये घटनाएं हमारे मस्तिष्क को झंकृत तो करती हैं, हमें अच्छी लगती हैं किन्तु हमारा बहुत साथ नहीं देतीं। एक बार सुना, मन में प्रेरणा जागी। सामने परिस्थिति आई तो घुटने टेक दिए, अहिंसा को विस्मृत कर बैठे। समस्या यह है कि आदमी केवल श्रवणप्रिय है। प्राचीन भाषा में श्रवण और आज की भाषा में कहें तो पठन, दोनों एक ही बात है। क्योंकि पुराने जमाने में गुरु कहता और शिष्य सुन लेता। लिखना नहीं होता था, अतः पढ़ने की बात नहीं थी। पुराने जमाने का सुनना और आज का पढ़ना दोनों सम हैं। श्रवण की अगली भूमिका है मनन। श्रवण और पठन–दोनों स्थितियों में जितना श्रवण होता है, उसका २०.प्रतिशत भी मनन नहीं होता, १०

प्रतिशत भी नहीं होता। तीसरी भूमिका है निदिध्यासन। उससे तो आज मुक्ति ही मिल गई है। इन तीनों का योग ही यथार्थ स्थिति तक पहुंचा सकता है। जीवन विज्ञान की प्रक्रिया में इस फार्मूले पर ध्यान दिया गया कि अच्छे सिद्धान्त को जानना, उस पर मनन करना यानी उसकी अनुप्रेक्षा करना और अनुशीलन करना, निदिध्यासन करना, ये तीनों बातें होती हैं तब किसी नई आस्था का निर्माण होता है। ज्ञान और आचरण की जो दूरी है, वह तब तक नहीं मिट सकती जब तक ये तीनों बातें नहीं आएंगी। इन तीनों का समन्वय हुए बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता। हम खामी तो बहुत निकाल सकते हैं। शिक्षा प्रणाली के बारे में अनेक खामियां निकाली गईं किंतु उनमें क्या सुधार होना चाहिए, क्या रचनात्मक परिवर्तन होना चाहिए, यह बहुत कम सामने आया।

एक चित्रकार ने बाजार में अपना चित्र टांग कर नीचे लिख दिया कि इसे देखें और जहां कमी हो वहां चिन्ह लगा दें। सायं जाकर देखा, पूरा चित्र चिन्हों से भर गया था। उसने सोचा, बड़ा अनर्थ हो गया।

दूसरे दिन उसने एक चित्र फिर टांगा, लिख दिया कि जहां कोई खामी है, सुधार दें। सांझ को जाकर देखा तो चित्र वैसा का वैसा मिला, कोई परिवर्तन नहीं।

हम कमियां बहुत निकाल सकते हैं, त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान जा सकता है, बिन्दु लगा सकते हैं, किन्तु जहां सुधारने वाली बात आती है वहां कुछ भी नहीं। हम केवल खामी की बात न पकड़ें, कुछ सृजन करें।

सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक। प्रत्येक क्षेत्र में ये दोनों अपेक्षित हैं। पहला पक्ष है—सैद्धान्तिक, जिसमें दो बातें आती हैं—श्रवण और मनन। सिद्धान्त को जानना और उस पर मनन करना, उसकी अनुप्रेक्षा करना, उसका अनुचिंतन करना।

दूसरी बात है—प्रयोगात्मक—निदिध्यासन, अभ्यास करना। सुनो, ज्ञान करो, विवेक करो और प्रत्याख्यान करो। जो छोड़ने योग्य है उसका प्रत्याख्यान करो और जो उपादेय है उसका अभ्यास करो। यह

एक पूरी प्रक्रिया है परिवर्तन की। इस प्रक्रिया को अपनाए बिना आस्था को बदलने की बात कभी संभव नहीं बनेगी।

अहिंसा और उसकी आस्था को उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है--श्रवण, मनन और निदिध्यासन। जब तक शिक्षा के साथ या धर्म की आराधना के साथ ज्ञान और क्रिया--दोनों का योग नहीं होगा, तब तक नहीं लगता कि इस समस्या का समाधान हो जाए। इस योग के बिना न तो धार्मिक अच्छा धार्मिक बन सकता है और न विद्यार्थी अच्छा विद्यार्थी बन सकता है।

समाज और नैतिकता के विकास के लिए दो बातें जरूरी हैं--ज्ञान भी हो और अच्छा मानवीय व्यवहार भी हो। मानव मानव के प्रति सद् व्यवहार करे, बुरा व्यवहार न करे। यह तभी संभव है जबकि यह पूरा क्रम--श्रवण, मनन और निदिध्यासन चले। आज सिद्धान्त की बात तो चल रही है, पर अभ्यास वाली बात नहीं चल रही है।

जीवन विज्ञान का मूल ध्येय है कि धर्म और विद्या--दोनों क्षेत्रों में सिद्धांत और प्रयोग का योग होना चाहिए।

सामाजिक मूल्यों का आधार : सत्य

सत्य विराट् और अनन्त है। अनन्त के विषय में कल्पना नहीं की जा सकती। कल्पना तर्क में उलझ जाती है।

विज्ञान ने एक यंत्र बनाया है टेलिस्कोप। उससे दो अरब प्रकाश-वर्ष की दूरी पकड़ ली जाती है। दो अरब प्रकाश वर्ष कितनी दूरी का द्योतक है, कल्पना करना भी दुष्कर होता है। एक सेकेण्ड में एक लाख छियासी हजार मील की गति। इस गति से एक घंटा, एक दिन-रात, एक मास, एक वर्ष। यह है एक प्रकाश-वर्ष की दूरी। ऐसे दो अरब प्रकाश-वर्ष। इस दूरी को वह टेलिस्कोप पकड़ लेता है। असंख्य नीहारिकाएं, असंख्य द्वीप और समुद्र। आदमी सोचता है तो दिमाग चकरा जाता है। पर यह है सत्य। अब हम सोचें, कितना विराट् है सत्य। किन्तु इस विराट् सत्य को समझने की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति 'कूपमंडूक' ही प्रमाणित हो रहा है।

सत्य के पांच प्रकार या पांच अर्थ हैं--

(१) अस्तित्व सत्य
(२) नियम सत्य
(३) ऋजुता सत्य
(४) अविसंवादिता सत्य
(५) प्रामाणिकता सत्य

१. अस्तित्व सत्य

सत्य का एक अर्थ है--अस्तित्व अर्थात् जगत् का अस्तित्व। हमारा अस्तित्व-जगत् इतना बड़ा है कि उसके विषय में एक भाषा में कुछ कह पाना संभव नहीं है। अभी मुझे अस्तित्वात्मक सत्य की व्याख्या नहीं करनी है।

२. नियम सत्य

सत्य का एक अर्थ है--नियम, जागतिक नियम, सार्वभौम नियम। समय का चक्र अविरल गति से घूम रहा है, यह जागतिक नियम है। दिन होना, रात होना और यह क्रम निरन्तर चलते रहना, यह जगत्

का नियम है। गति, स्थिति और परिवर्तन–ये तीनों जागतिक नियम हैं। ये सब सत्य हैं, किन्तु इनकी व्याख्या भी अभी प्रासंगिक नहीं है।

अस्तित्व सत्य और जागतिक सत्य- ये दोनों सत्य समाज के साथ सीधे जुड़े हुए नहीं है। प्रत्यक्षतः इनका समाज के साथ संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता।

नियम- सत्य का एक संदर्भ है मनुष्यकृत नियम। मनुष्य नियम बनाता है। उसका पालन होता है और समाज के साथ उसका संबंध जुड़ा रहता है। चाहे धर्म- व्यवस्था के या समाज- व्यवस्था के नियम हों, वे सब सत्य हैं। उन्हीं के आधार पर धर्म- व्यवस्था और समाज- व्यवस्था का निर्णय होता है। एक धर्मगुरु अपने धर्म की आचार- संहिता, मर्यादा और परम्परा के आधार पर निर्णय देता है। एक न्यायाधीश कानून और संविधान के आधार पर निर्णय करता है। समाज- व्यवस्था का संचालक समाज- संहिता के आधार पर निर्णय देता है।

ये नियम जागतिक या सार्वभौम नहीं हैं। ये सब कृतक हैं, मनुष्य द्वारा किए हुए हैं। ये सत्य हैं और इनसे समाज का संबंध जुड़ता है। इनसे सामाजिक जीवन के साथ संबंध स्थापित होता है। इनसे समाज प्रभावित होता है।

नियमों का बहुत बड़ा जाल बिछा हुआ है। समय समय पर नियम बनते रहते हैं। नये नियम बनते हैं, पुराने मिटते हैं और कुछ नियमों में परिवर्धन, परिशोधन होता है। नियमों का पालन भी होता है और उल्लंघन भी होता है। नियमों का अतिक्रमण असत्य या अन्याय माना जाता है।

३. ऋजुता सत्य

सत्य का एक अर्थ है–ऋजुता। यह आध्यात्मिक सत्य है। ऋजुता का अर्थ है–सरलता। ऋजुता का अर्थ है–अमाया, अछलना, अप्रवंचना। माया असत्य है। छलना और प्रवंचना असत्य है। ऋजुता के तीन प्रकार हैं–मन की ऋजुता, वचन की ऋजुता और शरीर की ऋजुता। ये तीनों सत्य हैं। यह है मानसिक सत्य, वाचिक सत्य और कायिक सत्य। छिपाना असत्य है। आदमी छिपाता

बहुत है। वह अपनी कमजोरी और अप्रकटनीय स्थिति को छिपाता है। जो पाने की लालसा है उसे भी छिपाता है। इस प्रवृत्ति ने संदेह को जन्म ही नहीं दिया, उसे बढ़ाया भी है। ऋजुता में संदेह नहीं उभरता, अविश्वास पैदा नहीं होता। संदेह में शक्ति का अपव्यय होता है। संदेह के अभाव में आदमी पचीस प्रतिशत शक्ति बचा लेता है। यह शक्ति के अपव्यय का न्यूनतम अनुमान है। मायाचार से शक्ति बहुत खर्च होती है।

संदेह की कोई सीमा नहीं है। आदमी प्रत्येक प्रवृत्ति में संदेह कर लेता है। संदेह के कारण अनेक कल्पनाएं और अनेक विचार उत्पन्न होते हैं और तब आदमी न जाने क्या क्या नहीं करता।

आदमी खाट पर सो रहा था। खाट के नीचे पानी से भरा लोटा रखा था। प्रातः सूर्योदय से पूर्व वह शौच के लिए बाहर गया। शौच से निवृत्त होकर घर आया। हाथ धोने बैठा। उसने देखा, हाथ लाल हैं। मन में संदेह हुआ। तत्काल पुनः जंगल में गया, देखा—जहां शौच किया था, वहां की जमीन भी लाल है। वह भारी मन से घर लौटा और खाट पर सोकर आहें भरने लगा। उसने घरवालों से कहा—जल्दी डाक्टर को बुला लाओ। मेरे शरीर से बहुत सारा रक्त बह गया है। मेरा शरीर शिथिल हो चुका है। मैं उठ नहीं सकता। डाक्टर आया। जांच की, सब कुछ ठीक था। इतने में ही बच्चा दौड़ा-दौड़ा आया, बोला—मैंने इस खाट के नीचे लाल रंग से भरा लोटा रखा था, वह कहां गया? खटिया पर पड़े मरीज ने सुना और पूछा—लोटे में लाल रंग घुला था? बच्चा बोला—हां । मरीज उठा और चलने लगा। उसकी कमजोरी समाप्त हो गई।

संदेह के कारण शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है। छिपाने की बात से संदेह उत्पन्न होता है। यदि संदेह और अविश्वास न हों तो अनेक दुर्घटनाएं और संघर्ष समाप्त हो सकते हैं। पारिवारिक और सामाजिक कलहों का मुख्य कारण संदेह होता है। संदेह के कारण बड़े बड़े साम्राज्य नष्ट होते देखे गए हैं।

महावीर और बुद्ध के समय में लिच्छवी गणराज्य एक शक्तिशाली गण था। महाराज चेटक गणाधिराज थे। कोणिक का अमात्य वत्सकार

कपट के साथ उस गण में सम्मिलित हुआ। उसने सामन्तों से मेलजोल बढ़ाया और उनमें परस्पर संदेह के बीज बो डाले। किसी को कुछ और किसी को कुछ कहकर सबमें अविश्वास पैदा कर दिया। वत्सकार ने देखा कि सभी सामंत एक दूसरे के प्रति संदेह के विष से ग्रस्त हो चुके हैं, तब उसने गुप्त रूप से अपने महाराज कोणिक को आक्रमण करने के लिए आह्वान किया। कोणिक अपनी सेना के साथ शत्रु-सीमा पर आ पहुंचा। महाराज चेटक के पास संवाद पहुंचा और उन्होंने रणभेरी बजाने का आदेश दे दिया। रणभेरी बजी, पर एक भी योद्धा रण के लिए तैयार नहीं हुआ। सब एक दूसरे से कहने लगे, भाई ! हम तो कायर हैं, अश्लील हैं। हम क्या लड़ेंगे? जो वीर और शीलवान हों वे जाएं रण में। चेटक अवाक् रह गए। कोणिक की सेना ने बिना किसी अवरोध के नगर में प्रवेश किया और विशाल गणतंत्र को अपने अधीन कर डाला। न युद्ध हुआ और न रक्त बहा। बिना कुछ किए ही विजय प्राप्त हो गई। एक महान् गणतंत्र का पतन हो गया। पतन का मूल कारण था संदेह।

इस ऋजुतात्मक सत्य का अतिक्रमण करने के कारण समाज ने कितनी कालरात्रियां भोगी हैं, कितनी कठिनाइयों का सामना किया है? ऋजुता में संदेह नहीं पनपता। संदेह नहीं होता है तो अनेक दुर्घटनाएं अपने आप टल जाती हैं। मनमुटाव का एक बड़ा कारण संदेह है, अऋजुता है।

सन् १९८५ में हम आमेट में थे। एक साध्वी मेरे पास आकर बोली– आचार्यश्री की मेरे पर कठोर दृष्टि है। मैं जब भी वन्दना करने जाती हूं, तब उनकी भृकुटी तनी हुई देखती हूं। मैंने कहा–ऐसा तो नहीं होना चाहिए। मैंने आचार्यश्री से उस साध्वी के विषय में पूछा। आचार्यश्री बोले–'मैं क्यों उस पर कठोर दृष्टि करूं। मैं अपने काम में होता हूं, मूड में होता हूं, चिन्तन या विचार में होता हूं। उस समय मुद्राएं भिन्न भिन्न होती हैं। वह उस समय वन्दना करने आई होगी, जब मेरी कठोर मुद्रा होगी। पर मैं बिना कारण ही उस पर क्यों कठोर दृष्टि रखूं? मैंने साध्वी से आचार्यश्री की बात कही और उसका संदेह मिट गया, वह विश्वस्त हो गई।

सत्य का एक अर्थ है—ऋजुता, अछुपाव। छुपाव सारी बुराइयों की जड़ है। कानून एक सत्य है, नियम एक सत्य है। पर बेचारा कानून या नियम क्या करे, जब समाज में छिपाने की अधिक प्रवृत्ति हो। घुमाव में प्रत्यक्षतः बुराई नहीं होती, बुराई भूमिगत होती है। राशन का नियम नहीं है तो दुकानों में अनाज का भंडार भरा है। राशन का नियम आया और दुकानों से अनाज गायब। सब भूमिगत हो जाता है। यह सब छिपाव के कारण होता है। ऋजुता के अभाव में होता है।

प्रश्न होता है कि समाज में ऋजुता का विकास किया जा सकता है ? यदि समाज को यथार्थ के आधार पर चलना है, व्यवहार को मानवीय धरातल पर चलना है, उसे स्नेहपूर्ण और मृदुतापूर्ण बनाना है तो ऋजुता को प्रश्रय देना ही होगा, छलना, प्रवंचना, संदेह तथा अविश्वास के भूत को भगाना ही होगा। अन्यथा व्यक्ति व्यक्ति के दुराव को हम मिटा नहीं पाएंगे। दो व्यक्ति पास बैठे हैं, पर उनके मन की दूरी हजारों मील की है। दो व्यक्ति हजारों मील दूर हैं, पर उनका मन निकट है, समीप है। मन की दूरी का कारण है संदेह और छिपाव। मन की निकटता का कारण है ऋजुता और स्पष्टता।

प्रत्येक व्यक्ति में अ-ऋजुता का भाव है। यह उसकी दुर्बलता है। वह इस कमजोरी के कारण स्वार्थ और मोहवश अनेक बुराइयों में फंसता है। उसकी यह कमजोरी छूटती नहीं क्योंकि छुपाव में उसका तीव्र रस है।

४. अविसंवादिता सत्य

सत्य का एक अर्थ है—अविसंवादिता अर्थात् कथनी और करनी की समानता। सामाजिक जीवन के साथ इनका बहुत बड़ा संबंध है। इससे समाज प्रभावी बनता है।

जब तक व्यक्ति में राग-द्वेष है, प्रियता-अप्रियता का द्वन्द्व है, तब तक कथनी और करनी, ज्ञान और आचरण की दूरी मिट नहीं सकती, इनमें अविसंवादिता आ नहीं सकती। कथनी और करनी की विसंवादिता को मिटाना, ऊंचे शिखर पर आरोह करने जैसा कार्य है।

जैन परंपरा में वीतराग और अवीतराग की सात कसौटियां मान्य हैं। उनमें एक है विसंवादन। जिनमें विसंवादन होता है, कथनी

और करनी में समानता नहीं होती, वह है अवीतराग और जिनमें कथनी और करनी की समानता होती है, अविसंवादन होता है वह है वीतराग। रागग्रस्त व्यक्ति जैसा कहता है वैसा करता नहीं। यह उसका लक्षण है। मात्रा में तरतमता हो सकती है। यह एक मान्य तथ्य है कि इस ज्ञान और आचरण की दूरी को पूर्णतः मिटाया नहीं जा सकता, पर कम किया जा सकता है। इसलिए साधना का, धर्म और अध्यात्म का प्रयत्न यह होना चाहिए कि वह इस दूरी को कम करने की दिशा में जनता का मार्गदर्शन करे। प्रत्येक साधनानिष्ठ, धर्मनिष्ठ और अध्यात्मनिष्ठ व्यक्ति दूरी कम करने की दिशा में प्रस्थान करे तो जनता बहुत लाभान्वित हो सकती है।

राजनीति के क्षेत्र में यह दूरी चिन्ता का विषय नहीं है, क्योंकि वह क्षेत्र कूटनीति का है और उसकी बुनियाद इसी दूरी पर आधृत है। सामाजिक क्षेत्र में यह दूरी कुछ समस्याएं पैदा करती है। वहां भी वह चलती है, पलती है। यह आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु आश्चर्य तब होता है जब आत्मा और चैतन्य के प्रति जागृत व्यक्ति भी उस दूरी को पालता है, बढ़ाता है। इसका स्पष्ट हेतु है कि व्यक्ति ने अहंकार और ममकार से अभी छुटकारा नहीं पाया है। ये दो हेतु उस दूरी के कारण है।

कथावाचक कथा कर रहा था। सैकड़ों व्यक्ति सुन रहे थे। उस परिषद् में एक सेठ बैठा था। वह अत्यन्त उदास था। कथा पूरी हुई। लोग बिखर गए। कथावाचक ने सेठ को उदासी का कारण पूछा। सेठ ने कहा—मेरा जवान लड़का मर गया। उसका दुःख भुलाना चाहता हूं, पर वह और गहरा होता जा रहा है। कथावाचक ने उसे आश्वस्त करते हुए धर्म का उपदेश दिया और संसार की असारता तथा आत्मा की अमरता की बात बताई। कथावाचक बोला—'सेठजी ! दुःख क्यों करते हैं? आत्मा अमर है। वह मरती नहीं, केवल चोला बदलता है। यह संसार है।' कथावाचक समझा ही रहा था कि इतने में एक जवान लड़के ने आकर कथावाचक के कान में कुछ कहा और कथावाचक रोने लगा। कथावाचक की आंखों में आंसू टपकने लगे। सेठ अपना दुःख भूल गया। उसने पूछा—अरे, आप क्यों रो रहे हैं?

कथावाचक रुंआसा-सा होकर बोला–' सेठजी ! गजब हो गया। मेरी बकरी मर गई। जिसका मैं प्रतिदिन दूध पीता था, वह आज नहीं रही।' सेठ ने कहा–'अभी तो आप मुझे आश्वासन दे रहे थे और आप स्वयं एक बकरी के लिए रो रहे हैं?' वह बोला–'तुमने मर्म को नहीं समझा। लड़का मेरा नहीं था, बकरी मेरी थी।'

ममत्व विकट समस्याएं पैदा करता है। इसके कारण सिद्धांत और आचरण अलग-थलग जा पड़ते हैं, कथनी और करनी की दूरी बढ़ जाती है। यह सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली बहुत बड़ी समस्या है।

५. प्रामाणिकता सत्य

समाज का अर्थ है–व्यवहार। दस-बीस आदमियों का एकत्रित हो जाना ही समाज नहीं है। समाज का तात्पर्य होता है–लेन-देन, विनियम,व्यवहार। समाज की यही परिभाषा है। हजार आदमी हों या हजार पशु हों वह समाज नहीं कहलाता। जहां परस्पर विनिमय होता है, व्यवहार होता है वह समाज कहलाता है। संस्कृत में दो शब्द हैं–समाज और समज। जहां व्यवहार होता है वह समाज और जहां व्यवहार की कोई गुंजाइश ही नहीं होती, वह है समज। पशुओं का समाज नहीं होता। उनका समूह समज कहलाता है। आदमियों का समूह समाज कहलाता है, क्योंकि वहां विनिमय है।

आज के समाज की भयंकर समस्या है व्यवहार की अप्रामाणिकता। अनैतिकता, क्रूर और जटिल व्यवहार के कारण समाज में हजारों समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। सामाजिक मूल्यों का विकास इसलिए नहीं हो रहा है कि आदमी में प्रामाणिकता नहीं है। एक समय था, जब भारतवासी प्रामाणिकता में बढ़े-चढ़े थे। उस समय यहां घी-दूध की नदियां बहती थी। चोरी, डकैती का नामोनिशान नहीं था। बड़े से बड़ा राज्याधिकारी प्रामाणिकता से कार्य करता था। महामात्य चाणक्य मगध साम्राज्य का सर्वेसर्वा था। जब वह राज्य का कार्य करता तब राज्य का दीपक जलाता और जब वह अपना व्यक्तिगत कार्य करता तब अपने घर का दीया जलाता। कितनी प्रामाणिकता? आज भी कुछेक राज्याधिकारी ऐसे हैं जो सरकारी काम में सरकार की मोटर

का उपयोग करते हैं और अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक कार्य में व्यक्तिगत मोटर का अथवा बस आदि का उपयोग करते हैं। यह है प्रामाणिक व्यवहार।

यदि कोई साधु गृहस्थ के घर से कपड़े सीने के लिए सुई की याचना कर सुई लाता है तो वह उस सुई से कपड़े ही सी सकता है। उस सुई का उपयोग दूसरे कार्य में नहीं कर सकता। यदि करता है तो वह असत्य का दोषी होता है। कपड़े काटने के लिए कैंची की याचना कर कैंची लाता है और यदि वह उससे कागज काट लेता है तो वह असत्यभाषण का दोषी होता है। यह है प्रामाणिकता।

प्रामाणिक व्यवहार जीवन का आधार है। इससे व्यक्तित्व निखरता है।

जीवन विज्ञान की शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी को प्रामाणिक जीवन जीने की कला सिखाई जाती है। यदि सत्य के ये पांचों अर्थ विद्यार्थी के जीवन में समाविष्ट होते हैं तो वह विद्यार्थी राष्ट्र का उन्नत नागरिक बन सकता है और उसका व्यक्तित्व समाज के लिए दीप-स्तंभ बन सकता है। हम उसे आत्मा, परमात्मा, ईश्वर आदि परोक्ष तत्त्वों का ज्ञान कराएं पर उसे दार्शनिक जटिलताओं में न उलझाएं । ये सारे परोक्ष हैं, अमूर्त हैं। इनके मंडन-खंडन से विद्यार्थी कुछ प्राप्त कर सकेगा, ऐसा नहीं लगता। इसलिए हम उसे व्यवहार के धरातल पर सही ढंग से चलना सिखाएं और उसका जीवन उन्नत प्रामाणिक और सुखी बन सके, इस ओर उसे प्रेरित करें।

कर्म संस्कार के परिष्कार का उपाय है भावशुद्धि और व्यवहारशुद्धि। व्यवहार शुद्धि के तीन रूप बनते हैं-

1. संयमपूर्ण व्यवहार।
2. प्रामाणिक व्यवहार - नैतिकता।
3. मृदु व्यवहार।

मनुष्य में राग या आसक्ति का आवेश है, इसलिए वह असंयमपूर्ण व्यवहार करता हैं। उसमें लोभ का आवेश है, इसलिए वह अप्रामाणिक व्यवहार करता है। अवांछनीय व्यवहार का मूल हेतु है आवेश। जैसा आवेश वैसा व्यवहार - यह कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण है। उसके अनुसार व्यवहार के नियंत्रण-सूत्र नाड़ी-तंत्र और ग्रंथितंत्रीय रसायन हैं। वे बदलते रहते हैं और उन्हें बदला जा सकता है। उन्हें बदलने का आध्यात्मिक सूत्र है - भावशुद्धि। जैसा भाव वैसा रसायन। भाव शुद्ध तो रसायन शुद्ध, भाव अशुद्ध तो रसायन भी अशुद्ध। भाव का स्रोत सूक्ष्म शरीर है। रसायन हमारे स्थूल शरीर में पैदा होते हैं। मानवीय व्यवहार की व्याख्या का आदि सूत्र है कर्म का स्पन्दन। उसके दृश्य सूत्र हैं जैविक रसायन और जैविक विद्युत। इस श्रृंखला में कर्मस्पंदन भाव का, भाव जैविक रसायन का, जैविक रसायन विचार और व्यवहार का कारण बनता है।

कर्म-संस्कार के संचय का कारण है विचार और व्यवहार। विचार की एकाग्रता और व्यवहार शुद्धि की प्रणाली सिखाने पर पचास प्रतिशत शिक्षा संपन्न हो जाती है। शेष पचास प्रतिशत शिक्षा का क्षेत्र है बौद्धिक और कर्म-कौशल (टैक्नोलॉजी) का विकास।

-आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती
लाडनूं-३४१३०६ (राज.)